प्रवचनामृत-

समीचीन धर्म

आचार्य कुंदकुंद के रहते हुए भी आचार्य समन्तभद्र का महत्व एवं लोकोपकार किसी प्रकार कम नहीं है। हमारे लिए आचार्य कुंदकुंद पिता तुल्य है और आचार्य समन्तभद्र करुणामयी मां के समान हैं। वहीं समन्तभद्र आचार्य कहते हैं कि 'देशयामि समीचीनं धर्मम् कर्मनिवर्हणम्, संसार दु:खत: सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।' अर्थात् मैं समीचीन धर्म का उपदेश करूँगा। यह समीचीन धर्म कैसा है? 'कर्मनिवर्हणम्' अर्थात् कर्मों का निर्मूलन करने वाला है और 'सत्त्वान्' प्राणियों को संसार के दुखों से उबारकर उत्तम सुख में पहुँचाने वाला है।

आचार्य श्री ने यहाँ 'सत्त्वान्' कहा, अकेला 'जैनान्' नहीं कहा। इससे सिद्ध होता है कि धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष से संबंधित नहीं है। धर्म निर्बन्ध है, निस्सीम है, सूर्य के प्रकाश की तरह। सूर्य के प्रकाश को हम बंधन युक्त कर लेते हैं, दीवारें खींचकर, दरवाजे बनाकर, खिड़कियाँ लगाकर। इसी तरह आज धर्म के चारों ओर भी सम्प्रदायों की दीवारें सीमाएँ खींच दी गयी हैं।

गंगा नदी हिमालय से प्रारम्भ होकर निर्बाध गति से समुद्र की ओर प्रवाहित होती है। उसके जल में अनगणित प्राणी किलोंले करते हैं, उसके जल से आचमन करते हैं, उसमें स्नान करते हैं, उसका जल पीकर जीवन-रक्षा करते हैं, अपने पेड़-पौधों को पानी देते हैं, खेतों को हरियाली से सजा लेते हैं। इस प्रकार गंगा नदी किसी एक प्राणी, जाति अथवा सम्प्रदाय की नहीं है, वह सभी की है। यदि कोई उसे अपना बतावे तो गंगा का इसमें क्या दोष? ऐसे ही भगवान वृषभदेव अथवा भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म पर किसी जाति-विशेष का आधिपत्य संभव नहीं है। यदि कोई आधिपत्य रखता है तो यह उसकी अज्ञानता है।

धर्म और धर्म को प्रतिपादित करने वाले महापुरुष सम्पूर्ण लोक की अक्षय निधि हैं। महावीर भगवान की सभा में क्या केवल जैन ही बैठते थे? नहीं, उनकी धर्मसभा में देव, देवी, मनुष्य, स्त्रियाँ पशु-पक्षी सभी को स्थान मिला हुआ था। अत: धर्म किसी परिधि से बंधा हुआ नहीं है। उसका क्षेत्र प्राणी मात्र तक विस्तृत है।

आचार्य महाराज अगले श्लोक में धर्म की परिभाषा का विवेचन करते हैं, वे लिखते हैं कि 'सद्दृष्टि ज्ञान-वृत्तानि धर्म, धर्मेश्वरा विदुः। यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।।' अर्थात् (धर्मेश्वरा) गणधर परमेष्ठी (सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि) समीचीन दृष्टि, ज्ञान और सद्आचरण के समन्वित रूप को (धर्म विदुः) धर्म कहते हैं। इसके विपरीत अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र (भवपद्धतिः भवन्ति) संसार पद्धति को बढ़ाने वाले हैं।

सम्यग्दर्शन अकेला मोक्षमार्ग नहीं है किंतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का समन्वित रूप ही मोक्षमार्ग है। वही धर्म है। औषधि पर आस्था, औषधि का ज्ञान और औषधि को पीने से ही रोगमुक्ति संभव है। इतना अवश्य है कि जैनाचार्यों ने सद्दृष्टि पर सर्वाधिक बल दिया है। यदि दृष्टि में विकार है तो निर्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करना असंभव ही है।

मोटरकार, चाहे कितनी अच्छी हो वह आज ही फैक्टरी से बनकर बाहर क्यों न आयी हो, किंतु यदि उसका चालक मदहोश है तो वह गंतव्य तक पहुँच नहीं पायेगा। वह कार को कहीं भी टकराकर चकनाचूर कर देगा। चालक का होश ठीक होना अनिवार्य है, तभी मंजिल तक पहुँचा जा सकता है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग का पथिक जब तक होश में नहीं है, जब तक उसकी मोह नींद का उपशमन नहीं हुआ, तब तक लक्ष्य की सिद्धि अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

मिथ्यात्व रूपी विकार, दृष्टि से निकलना चाहिये तभी दृष्टि समीचीन बनेगी, और तभी ज्ञान भी सुज्ञान बन पायेगा। फिर रागद्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र-मोहनीय कर्म के उपशम से आचरण भी परिवर्तित करना होगा, तब मोक्षमार्ग की यात्रा निर्बाध पूरी होगी।

ज्ञान-रहित आचरण लाभप्रद न होकर हानिकारक ही सिद्ध होता है। रोगी की परिचर्या करने वाला यदि यह नहीं जानता है कि रोगी को औषधि का सेवन कैसे कराया जाए तो रोगी का जीवन ही समाप्त हो जायेगा। अतः समीचीन दृष्टि, समीचीन ज्ञान और समीचीन आचरण का समन्वित रूप ही धर्म है। यही मोक्षमार्ग है।

□□

निर्मल दृष्टि

□ **दर्शन विशुद्धि मात्र सम्यक् दर्शन नहीं है। दृष्टि में निर्मलता होना दर्शन विशुद्धि है और दृष्टि में निर्मलता आती है तत्व चिंतन से।**

कार्य से कारण की महत्ता अधिक है क्योंकि यदि कारण न हो तो कार्य निष्पन्न नहीं होगा। फूल न हो तो फल की प्राप्ति नहीं होगी।

कुछ लोग ऐसे भगवान की कल्पना करते हैं जो उनकी सब शुभाशुभ इच्छाओं की पूर्ति करे। 'खुदा मेहरबान तो गधा पहलवान' ऐसा लोग कहते हैं। इसीलिए भगवान महावीर को बहुत से लोग भगवान मानने को तैयार नहीं। किन्तु सत्य/तथ्य ये हैं कि भगवान बनने के पहले तो शुभाशुभ कार्य किए जा सकते हैं, भगवान बनने के बाद नहीं।

भगवान महावीर जब पूर्व जीवन में नंदराज चक्रवर्ती थे, तब उनको एक विकल्प हुआ कि "मैं सम्पूर्ण प्राणियों का कल्याण करूँ" और इसी विकल्प के फलस्वरूप उन्हें तीर्थंकर प्रकृति का बंध हुआ। कल्याण करने के लिये भी बंधन स्वीकार करना पड़ा। ये बंधन चेष्टा पूर्वक किया जाता है तो इस बंधन के पश्चात् मुक्ति होती है। यदि माँ केवल अपनी ही ओर देखे तो बच्चों का पालन सम्भव नहीं होगा।

'पर' के कल्याण में भी 'स्व' कल्याण निहित है। ये बात दूसरी है कि फिर दूसरे का कल्याण हो अथवा न भी हो। किसान की भावना यही रहती है कि "वृष्टि समय पर हुआ करे" और वृष्टि तो जब भी होगी सभी के खेतों पर होगी किन्तु जब किसान फसल काटता है तो अपनी ही काटता है, किसी दूसरे की नहीं। अर्थात् कल्याण सबका चाहता है किन्तु पूर्ति अपने ही स्वार्थ की करता है।

दर्शन-विशुद्धि मात्र सम्यग्दर्शन नहीं है। दृष्टि में निर्मलता का होना दर्शन-विशुद्धि है और दृष्टि में निर्मलता आती है तत्व चिन्तन से।

हमारी दृष्टि बड़ी दोषपूर्ण है। हम देखते तो अनेक वस्तुएँ हैं किन्तु उन्हें हम साफ नहीं देख पाते। हमारी आँखों पर किसी न किसी रंग का चश्मा लगा हुआ है। प्रकाश का रंग कैसा है, आप बतायें। क्या यह लाल है? क्या हरा या पीला है? नहीं, प्रकाश का कोई वर्ण नहीं। वह तो वर्णातीत है, किन्तु

विभिन्न रंग वाले कांच के सम्पर्क से हम उस प्रकाश को लाल, पीला या हरा कहते हैं, इसी प्रकार हमारा या हमारी आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है? 'अवर्णोऽहं' मेरा कोई वर्ण नहीं, 'अरसोऽहं' मुझ में कोई रस नहीं 'अस्पर्शोऽहं' मुझे छुआ नहीं जा सकता। यह मेरा स्वरूप है। किन्तु इस स्वयं को आप पहिचान नहीं पाते। यही है हमारी दृष्टि का दोष।

हम पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की धारणा बनाते हैं। कुछ पदार्थों को हम इष्ट मानते हैं, जिन्हें हम हितकारी समझते हैं। कुछ पदार्थों को अनिष्ट मानते हैं, अहितकारी समझते हैं। पर वास्तव में कोई पदार्थ न इष्ट है और न अनिष्ट है। इष्ट-अनिष्ट की कल्पना भी हमारी दृष्टि का दोष है।

इसी प्रकार जैनाचार्यों ने बताया है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न। ऊपर का आवरण ये शरीर केवल एक छिलके के समान है यह उन्होंने अनुभव द्वारा बताया है किन्तु हम अनुभव की बात भी नहीं मानते। हमारी स्थिति बच्चे जैसी है। दीपक जलता है तो बच्चे को यह समझाया जाता है कि इसे छूना नहीं। उसे दीपक से बचाने की भी चेष्टा की जाती है किन्तु फिर भी वह बच्चा उस दीपक पर हाथ धर ही देता है और जब एक बार जल जाता है तो फिर वह उस दीपक के पास अपना हाथ नहीं ले जाता। हमारी दृष्टि का परिमार्जन तभी समझा जायेगा, जब हम प्रत्येक वस्तु को उसके असली रूप में देखें/समझें।

यह दर्शन-विशुद्धि लाखों करोड़ों मनुष्यों में से किसी एक को होती है, किन्तु होगी ये विशुद्धि केवल मन्दकषाय में ही। शास्त्रीय भाषा में दर्शन-विशुद्धि चौथे गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग तक हो सकती है। सद्गृहस्थ की अवस्था से लेकर उत्कृष्ट मुनि की अवस्था तक यह विशुद्धि होती है। एक बार प्रारम्भ हो जाने पर फिर श्रेणी में भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो सकता है किन्तु होगा मंद कषाय के सद्भाव में। दूसरे के कल्याण की भावना का विकल्प जब होगा, तब तीर्थंकर प्रकृति का बंध होगा। तीर्थंकर प्रकृति एक ऐसा निकाचित बंध है जो नियम से मोक्ष ही ले जायेगा।

कल शास्त्रीजी मेरे पास आये थे। साथ में गोम्मटसार की कुछ प्रतियाँ लाये थे। उसमें एक बात बड़े मार्के की देखने को मिली। तीर्थंकर प्रकृति का उदय चौदहवें गुणस्थान में भी रहता है। जब जीव मोक्ष की ओर प्रयाण करता है तब यह तीर्थंकर प्रकृति अपनी विजयपताका फहराते हुए चलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कषायों से ही कर्मबन्ध होता है और कषायों से ही कर्मों का निर्मूलन होता है। जैसे पानी से ही कीचड़ बनता है और पानी में ही घुलकर

यह गंगा के जल का भाग बन जाता है। जिसे लोग सिर पर चढ़ाते हैं और उसका आचमन करते हैं। 'काँटा ही काँटें को निकालता है, यह सभी जानते हैं।

दर्शन-विशुद्धि भावना और दर्शन में एक मौलिक अन्तर है। दर्शन विशुद्धि में केवल तत्वचिन्तन ही होता है, पंचेद्रियों के विषयों का चिन्तन नहीं चलता, किन्तु सम्यग्दर्शन में विषय चिन्तन भी सम्भव है।

दर्शन-विशुद्धि भावना चार स्थितियों में भायी जा सकती है। प्रथम मरण के समय; द्वितीय भगवान के सम्मुख; तृतीय अप्रमत्त अवस्था में और चौथे कषाय के मन्दोदय में।

तीर्थंकर प्रकृति पुण्य का फल है "पुण्यफला अरहंता", किन्तु इसके लिये पुण्य कार्य पहले होना चाहिए। प्रवृत्ति ही निवृत्ति की साधिका है। राग से ही वीतरागता की ओर प्रयाण होता है। एक सज्जन ने मुझ से कहा- "महाराज, आप एक लंगोटी लगा लें तो अच्छा हो, क्योंकि आपके रूप को देखकर राग की उत्पत्ति होती है।" मैंने कहा- "भैया, तुम जो चमकीले-भड़कीले कपड़े पहिनते हो, उससे राग बढ़ता है अथवा यथाजात अवस्था से। नग्न दिगम्बर रूप तो परम वीतरागता का साधक है। विशुद्धि में आवरण कैसा? विशुद्धि में तो किसी भी प्रकार का बाहरी आवरण बाधक है, साधक तो वह किसी अवस्था में हो नहीं सकता। अन्तरंग का दर्शन तो यथाजात रूप द्वारा ही हो सकता है, फिर भी यदि इस रूप को देख कर किसी को राग का प्रादुर्भाव हो, तो मैं क्या कर सकता हूँ। देखने वाला भले ही मेरे रूप को न देखना चाहे तो अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ले। पानी किसी को कीचड़ थोड़े ही बनाना चाहता है। जिसकी इच्छा कीचड़ बनने की हुई उसकी सहायता अवश्य कर देता है। पानी एक ही है। जब वह मिट्टी में गिरता है तो उसे कीचड़ बना देता है। जब वह बालू में गिरता है तो उसे सुन्दर कणदार रेत में परिवर्तित कर देता है। वही पानी जब पत्थर पर गिरता है तो उसके रूपरंग को निखार देता है। पानी एक ही है, किन्तु जो जैसा बनना चाहता है उसकी वैसी ही सहायता कर देता है। इसी प्रकार नग्न रूप वीतरागता को पुष्ट करता है किन्तु यदि कोई उससे राग का पाठ ग्रहण करना चाहे, तो ग्रहण करे, इसमें उस नग्न रूप का क्या दोष? ये तो दृष्टि का खेल है।

□□

विनयावनति

□ **विनय जब अंतरंग में प्रादुर्भूत हो जाती है तो उसकी ज्योति सब ओर प्रकाशित होती है। वह मुख पर प्रकाशित होती है, आँखों में से फूटती है, शब्दों में उद्‌भूत होती है और व्यवहार में प्रदर्शित होती है।**

विनय का महत्व अनुपम है। यह वह सोपान है जिस पर आरूढ़ होकर साधक मुक्ति की मंजिल तक पहुँच सकता है। विनय आत्मा का गुण है। यह विनय नामक गुण तत्व-मंथन से ही उपलब्ध हो सकता है। विनय का अर्थ है-सम्मान, आदर, पूजा आदि। विनय से हम आदर और पूजा तो प्राप्त करते ही हैं, साथ ही, सभी विरोधियों पर विजय भी प्राप्त कर सकते हैं। क्रोधी, कामी, मायावी, लोभी सभी विनय द्वारा वश में किये जा सकते हैं। विनयी दूसरों को भलीभाँति समझ पाता है और उसकी चाह यही रहती है कि दूसरा भी अपना विकास करे। अविनय में शक्ति का बिखराव है, विनय में शक्ति का केन्द्रीकरण है। कोई आलोचना भी करे तो हम उसकी चिन्ता न करें। विनयी आदमी वही है जो गाली देने वाले के प्रति भी विनय का व्यवहार करता है।

एक जंगल में दो पेड़ खड़े हैं-एक बड़ का और दूसरा बेंत का। बड़ का पेड़ घमण्ड में चूर है। वह बेंत के पेड़ से कहता है- "तुम्हारे जीवन से क्या लाभ है? तुम किसी को छाया तक नहीं दे सकते और फल तथा फूल का तो तुम पर नाम ही नहीं। मुझे देखो, मैं कितनों को छाया देता हूँ यदि मुझे कोई काट भी ले तो मेरी लकड़ी से बैठने के लिए सुन्दर आसनों का निर्माण हो सकता है। तुम्हारी लकड़ी से तो दूसरों को पीटा ही जा सकता है।" सब कुछ सुनकर भी बेंत का पेड़ मौन रहा। थोड़ी देर में मौसम ऐसा हो जाता है कि तूफान और वर्षा दोनों साथ-साथ प्रारम्भ हो जाते हैं। कुछ ही क्षणों में बेंत का पेड़ साष्टांग दण्डवत् करने लगता है, झुक जाता है किन्तु बड़ का पेड़ ज्यों का त्यों खड़ा रहा। देखते-देखते ही पाँच मिनट में तूफान का वेग उसे उखाड़कर फेंक देता है। बेंत का पेड़ जो झुक गया था, तूफान के निकल जाने पर फिर ज्यों का त्यों खड़ा हो गया। विनय की जीत हुई, अविनय हार गया। जो अकड़ता है, गर्व करता है उसकी दशा बिगड़ती ही है।

हमें शब्दों की विनय भी सीखना चाहिये। शब्दों की अविनय से कभी-कभी बड़ी हानि ही जाती है। एक भारतीय सज्जन एक बार अमेरिका गये। वहाँ उन्हें एक सभा में बोलना था। लोग उन्हें देखकर हँसने लगे और जब वे बोलने के लिये खड़े हुये तो हँसी और अधिक बढ़ने लगी। उन भारतीय सज्जन को थोड़ा क्रोध आ गया, मंच पर जाते ही उनका पहला वाक्य था 'पचास प्रतिशत अमेरिकन मूर्ख होते हैं।' अब क्या था। सारी सभा में हलचल मच गई और सभा अनुशासन से बाहर हो गई। पर तत्काल ही उन भारतीय सज्जन ने थोड़ा विचार कर कहना शुरू किया- "क्षमा करें, पचास प्रतिशत अमेरिकन मूर्ख नहीं होते।" इन शब्दों को सुनकर सभा में फिर शान्ति हो गई और सब लोग यथास्थान बैठ गये। देखो, अर्थ में कोई अन्तर नहीं था, केवल शब्द-विनय द्वारा वह भारतीय सबको शान्त करने में सफल हो गया।

विनय जब अन्तरंग में प्रादुर्भूत हो जाती है तो उसकी ज्योति सब ओर प्रकाशित होती है। वह मुख पर प्रकाशित होती है, आँखों में से फूटती है, शब्दों में उद्‌भूत होती है और व्यवहार में भी प्रदर्शित होती है। विनय गुण से समन्वित व्यक्ति की केवल यही भावना होती है कि सभी में यह गुण उद्‌भूत हो जाय। सभी विकास की चरम सीमा प्राप्त कर लें।

मुझसे एक सज्जन ने एक दिन प्रश्न किया, "महाराज, आप अपने पास आने वाले व्यक्ति से बैठने को भी नहीं पूछते। आप में इतनी भी विनय नहीं, महाराज।" मैंने उनकी बात बड़े ध्यान से सुनी और कहा- "भैया, साधु की विनय और आपकी विनय एक-सी कैसे हो सकती है? आपको मैं कैसे कहूँ "आइये, बैठिये।" क्या वह स्थान मेरा है? और मान लो कोई केवल दर्शन मात्र के लिए आया हो तो? इसी तरह मैं किसी से जाने को भी कैसे कह सकता हूँ? मैं आने-जाने की अनुमोदना कैसे कर सकता हूँ? कोई मान लो रेल या मोटर से प्रस्थान करना चाहता हो तो मैं उन वाहनों की अनुमोदना कैसे करूँ जिनका मैं वर्षों पूर्व त्याग कर चुका हूँ। और मान लो कोई केवल परीक्षा करना चाहता हो तो, उसकी विजय हो गयी और मैं पराजित हो जाऊँगा। आचार्यों का उपदेश मुनियों के लिए केवल इतना ही है कि वे हाथ से कल्याण का संकेत करें और मुख का प्रसाद बिखेर दें। इससे ज्यादा उन्हें कुछ और नहीं करना है।

"मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि व सत्वगुणधिक क्लिश्यमानाविनयेषु।" यह सूत्र है। तब मुनि आपके प्रति कैसे अविनय की भावना रख सकता है?

उसे तो कोई गाली भी दे तो भी वह सबके प्रति मैत्री-भाव ही रखता है। जंगल में दंगल नहीं करता, मंगल में अमंगल नहीं करता। वह तो सभी के प्रति मंगल-भावना से ओतप्रोत है।

सो धर्म मुनिन कर धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताकूँ सुनिये भवि प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी।

साधु की मुद्रा तो ऐसी वीतरागतामय होती है जो दूसरों को आत्मानुभव का प्रबल साधक बन जाती है।

फिर एक बात और भी है। अगर किसी को बिठाना दूसरों को अनुचित मालूम पड़े अथवा स्थान इतना भर जाय कि फिर कोई जगह ही अवशेष न रहे तो ऐसे में मुनि महाराज वहाँ से उठना पसन्द करेंगे अथवा उपसर्ग समझ कर बैठे रहेंगे तो भी उनकी मुद्रा ऐसी होगी कि देखने वाला भी उनकी साधना और तपस्या को समझ कर शिक्षा ले सके। बिच्छू के पास एक डंक होता है। जो व्यक्ति उसे पकड़ने का प्रयास करता है, वह उसको डंक मार ही देता है। एक बार ऐसा हुआ। एक मनुष्य जा रहा था, उसने देखा, कीचड़ में एक बिच्छू फँसा हुआ है। उसने उसे हाथ से जैसे ही बाहर निकालना चाहा, बिच्छू ने डंक मारने रूप प्रसाद ही दिया, और कई बार उसे निकालने की कोशिश में वह डंक मारता रहा। तब लोगों ने उससे कहा- "बावले हो गये हो। ऐसा क्यों किया तुमने?" "अरे भाई बिच्छू ने अपना काम किया और मैंने अपना काम किया, इसमें मेरा बावलापन क्या?" उस आदमी ने ये उत्तर दिया। इसी प्रकार मुनिराज भी अपना काम करते हैं। वे तो मंगल की कामना करते हैं और गाली देने वाले उन्हें गाली देने का काम करते हैं। तब तुम कैसे कह सकते हो कि साधु किसी के प्रति अविनय का भाव रख सकता है।

शास्त्रों में अभावों की बात आई है। जिसमें प्राग्भाव का तात्पर्य है "पूर्व पर्याय का वर्तमान में अभाव" और प्रध्वंसाभाव का अभिप्राय है "वर्तमान पर्याय में भावी पर्याय का अभाव"। इसका मतलब है कि जो उन्नत है वह गिर भी सकता है और जो पतित है वह उठ भी सकता है। और यही कारण है कि सभी आचार्य महान् तपस्वी भी त्रिकालवर्ती तीर्थंकरों को नमोस्तु प्रस्तुत करते हैं और भविष्यत् काल के तीर्थंकरों को नमोस्तु करने में भावी नय की अपेक्षा सामान्य संसारी जीव भी शामिल हो जाते हैं, तब किसी की अविनय का प्रश्न ही नहीं है। आपकी अनंत शक्ति को भी सारे तपस्वियों ने पहिचान

लिया है, चाहे आप पहिचाने अथवा नहीं। आप सभी में केवल ज्ञान की शक्ति विद्यमान है यह बात भी कुन्दकुन्दादि महान् आचार्यों द्वारा पहचान ली गई है।

अपने विनय गुण का विकास करो। विनय गुण से असाध्य कार्य भी सहज साध्य बन जाते हैं। यह विनय गुण ग्राह्य है, उपास्य है, आराध्य है। भगवान महावीर कहते हैं- "मेरी उपासना चाहे न करो, विनय गुण की उपासना जरूर करो। विनय का अर्थ यह नहीं है कि आप भगवान के समक्ष तो विनय करें और पास-पड़ोस में अविनय का प्रदर्शन करें। अपने पड़ोसी को भी यथायोग्य विनय करो। कोई घर पर आ जाये तो उसका सम्मान करो। "मानेन तृप्ति र्न तु भोजनेन" अर्थात् सम्मान से तृप्ति होती है, भोजन से नहीं। अत: विनय करना सीखो, विनय गुण आपको सिद्धत्व प्राप्त करा देगा।

□□

सुशीलता

□ **निरतिचार शब्द बड़े मार्के का शब्द है। व्रत के पालने में यदि कोई गड़बड़ न हो तो आत्मा और मन पर एक ऐसी छाप पड़ती है कि खुद का तो निस्तार होता ही है, अन्य भी जो इस व्रत और व्रती के सम्पर्क में आ जाते हैं वे भी तिर जाते हैं।**

शील से अभिप्राय स्वभाव से है। स्वभाव की उपलब्धि के लिए निरतिचार व्रत का पालन करना ही "शीलव्रतेष्वनतिचार" कहलाता है। व्रत से अभिप्राय नियम, कानून अथवा अनुशासन से है। जिस जीवन में अनुशासन का अभाव है वह जीवन निर्बल है। निरतिचार व्रत पालन से एक अद्‌भुत बल की प्राप्ति जीवन में होती है। निरतिचार का मतलब ही यह है कि जीवन अस्त-व्यस्त न हो, शान्त और सबल हो।

रावण के विषय में यह विख्यात है कि वह दुराचारी था किन्तु वह अपने जीवन में एक प्रतिज्ञा में आबद्ध भी था। उसका व्रत था कि वह किसी नारी पर बलात्कार नहीं करेगा, उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे नहीं भोगेगा और यही कारण था कि वह सीता को हरण तो कर लाया किन्तु उनका शील भंग नहीं कर पाया। इसका कारण केवल उसका व्रत था, उसकी प्रतिज्ञा थी। यद्यपि यह सही है कि यदि वह सीताजी के साथ बलात्कार का प्रयास भी करता तो भस्मसात् हो जाता किन्तु उसकी प्रतिज्ञा ने उसे ऐसा करने से रोक लिया।

ये 'निरतिचार' शब्द बड़े मार्के का शब्द है। व्रत के पालन में यदि कोई गड़बड़ न हो तो आत्मा और मन पर एक ऐसी गहरी छाप पड़ती है कि खुद का तो निस्तार होता ही है, अन्य भी जो इस व्रत और व्रती के सम्पर्क में आ जाते हैं वे, प्रभावित हुये बिना रह नहीं सकते। जैसे कस्तूरी को अपनी सुगन्ध के लिए किसी तरह की प्रतिज्ञा नहीं करनी पड़ती, उसकी सुगन्ध तो स्वतःचारों ओर व्याप्त हो जाती है। वैसी ही इस व्रत की महिमा है।

'अतिचार' और 'अनाचार' में भी बड़ा अन्तर है। 'अतिचार' दोष है जो लगाया नहीं जाता, प्रमादवश लग जाता है। किन्तु अनाचार तो सम्पूर्ण व्रत को विनष्ट करने की क्रिया है। मुनिराज निरतिचार व्रत के पालन में पूर्ण सचेष्ट रहते हैं। जैसे कई चुँगी चौकियाँ पार कर गाड़ी यथास्थान पहुँच जाती है उसी

प्रकार मुनिराज को भी बत्तीस अन्तराय टालकर निर्दोष आहार और अन्य उपकरण आदि ग्रहण करना पड़ने हैं।

निरतिचार व्रत पालन की महिमा अद्‌भुत है। एक भिक्षुक था। झोली लेकर एक द्वार पर पहुँचा रोटी माँगने। रूखा जवाब मिलने पर भी नाराज नहीं हुआ बल्कि आगे चला गया। एक थानेदार को उस पर तरस आ गया और उसने उस भिक्षुक को रोटी देने के लिए बुलाया। पर भिक्षुक थोड़ा आगे जा चुका था। इसलिए उसने एक नौकर को रोटी देने भेज दिया। 'मैं रिश्वत का अन्न नहीं खाता भइया!' ऐसा कहकर वह भिक्षुक आगे बढ़ गया। नौकर ने वापिस आकर थानेदार को भिक्षुक द्वारा कही गयी बात सुना दी और वे शब्द उस थानेदार के मन में गहरे उतर गये। उसने सदा-सदा के लिए रिश्वत लेना छोड़ दिया। भिक्षुक की प्रतिज्ञा ने, उसके निर्दोष व्रत ने थानेदार की जिन्दगी सुधार दी। जो लोग गलत तरीके से रुपये कमाते हैं वे दान देने में अधिक उदारता दिखाते हैं। वे सोचते हैं कि इसी तरह थोड़ा धर्म इकट्‌ठा कर लिया जाय किन्तु धर्म ऐसे नहीं मिलता। धर्म तो अपने श्रम से निर्दोष रोटी कमा कर दान देने में ही है।

अंग्रेजी में कहावत है कि मनुष्य केवल रोटी से नहीं जीता, उससे भी ऊँचा एक जीवन है जो व्रत साधना से उसे प्राप्त हो सकता है। आज हम मात्र शरीर के भरण-पोषण में लगे हैं। व्रत, नियम और अनुशासन के प्रति भी हमारी रुचि होनी चाहिये। अनुशासन विहीन व्यक्ति सबसे गया बीता व्यक्ति है। अरे भइया! तीर्थंकर भी अपने जीवन में व्रतों का निर्दोष पालन करते हैं। हमें भी करना चाहिए!

हमारे व्रत ऐसे हों जो स्वयं को सुखकर हों और दूसरों को भी सुखकर हों। एक सज्जन जो संभवतः ब्राह्मण थे मुझसे कहने लगे- 'महाराज, आप बड़े निर्दयी हैं। देने वाले दाता का आप आहार नहीं लेते। तो मैंने उन्हें समझाया-भइया! देने वाले और लेने वाले दोनों व्यक्तियों के कर्म का क्षयोपशम होना चाहिये। दाता का तो दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम होना आवश्यक है पर लेने वाले का भी भोगान्तराय कर्म का क्षयोपशम होना चाहिए। दाता लेने वाले के साथ जबर्दस्ती नहीं कर सकता क्योंकि लेने वाले के भी कुछ नियम, प्रतिज्ञायें होती हैं। जिन्हें पूरा करके ही वह आहार ग्रहण करता है।

सारांश यही है कि सभी को कोई न कोई व्रत अवश्य लेना चाहिये, वे व्रत नियम बड़े मौलिक हैं। सभी यदि व्रत ग्रहण करके उनका निर्दोष पालन करते रहें तो कोई कारण नहीं कि सभी कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न न हों।

□□

निरन्तर ज्ञानोपयोग

□ **ज्ञान का प्रवाह तो नदी के प्रवाह की तरह है। उसे सुखाया नहीं जा सकता, बदला जा सकता है। इसी प्रकार ज्ञान का नाश नहीं किया जा सकता है। उसे स्व-पर कल्याण की दिशा में प्रवाहित किया जा सकता है। यही ज्ञानोपयोग है।**

'अभीक्ष्णज्ञानोपयोग' शब्द तीन शब्दों से मिलकर बना है- अभीक्ष्ण + ज्ञान + उपयोग अर्थात् निरन्तर ज्ञान का उपयोग करना ही अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। आत्मा के अनन्तगुण हैं और उनके कार्य भी अलग-अलग हैं। ज्ञान गुण इन सभी की पहिचान कराता है। सुख जो आत्मा का एक गुण है उसकी अनुभूति भी ज्ञान द्वारा ही संभव है। ज्ञान ही वह गुण है जिसकी सहायता से पाषाण में से स्वर्ण को, खान में से हीरा, पन्ना आदि को पृथक् किया जा सकता है। अभीक्ष्णज्ञानोपयोग ही वह साधन है जिसके द्वारा आत्मा की अनुभूति और समुन्नति होती है। उसका विकास किया जा सकता है।

आज तक इस ज्ञान की धारा का प्रायः दुरुपयोग ही किया गया है। ज्ञान का प्रवाह तो नदी के प्रवाह की तरह है। जैसे गंगा नदी के प्रवाह को सुखाया नहीं जा सकता; केवल उस प्रवाह के मार्ग को हम बदल सकते हैं। उसी प्रकार ज्ञान के प्रवाह को सुखाया नहीं जा सकता केवल उसे स्व-पर हित के लिये उपयोग में लाया जा सकता है। ज्ञान का दुरुपयोग होना विनाश है और ज्ञान का सदुपयोग करना ही विकास है, सुख है, उन्नति है। ज्ञान के सदुपयोग के लिये जागृति परम आवश्यक है। हमारी हालत उस कबूतर की तरह हो रही है जो पेड़ पर बैठा है और पेड़ के नीचे बैठी हुई बिल्ली को देखकर अपना होश-हवास खो देता है। अपने पंखों की शक्ति को भूल बैठता है और स्वयं घबराकर उस बिल्ली के समक्ष गिर जाता है तो उसमें दोष कबूतर का ही है। हम ज्ञान की कदर नहीं कर रहे बल्कि जो ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं उन ज्ञेय पदार्थों की कदर कर रहे हैं। होना इससे विपरीत चाहिए था अर्थात् ज्ञान की कदर होना चाहिए।

ज्ञेयों के संकलन मात्र में यदि हम ज्ञान को लगा दें और उनके समक्ष अपने को हीन मानने लग जायें तो वह ज्ञान का दुरुपयोग है। ज्ञान का

सदुपयोग तो यह है कि हम अन्तर्यात्रा प्रारम्भ कर दें और यह अन्तर्यात्रा एक बार नहीं, दो बार नहीं, बार-बार अभीक्ष्ण करने का प्रयास करें। वह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग केवल ज्ञान को प्राप्त कराने वाला है, आत्म-मल को धोने वाला है। जैसे प्रभात बेला की लालिमा के साथ ही बहुत कुछ अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा आत्मा का अंधकार भी विनष्ट हो जाता है और केवल ज्ञान रूपी सूर्य उदित होता है। अतः ज्ञानोपयोग सतत चलना चाहिये।

'उपयोग' का दूसरा अर्थ है चेतना। अर्थात् अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग अपनी खोज चेतना की उपलब्धि का अमोघ साधन है। इसके द्वारा जीव अपनी असली सम्पत्ति को बढ़ाता है, उसे प्राप्त करता है, उसके पास पहुँचता है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का अर्थ केवल पुस्तकीय ज्ञान मात्र नहीं है। शब्दों की पूजा करने से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, सरस्वती की पूजा का मतलब तो अपनी पूजा से है, स्वात्मा की उपासना से है। शाब्दिक ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है, इससे सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। शाब्दिक ज्ञान तो केवल शीशी के लेबिल की तरह है, यदि कोई लेबिल मात्र घोंट कर पी जाय तो क्या इससे स्वास्थ्य-लाभ हो जायेगा? क्या रोग मिट जायेगा? नहीं, कभी नहीं। अक्षर ज्ञानधारी बहुभाषाविद् पण्डित नहीं है। वास्तविक पण्डित तो वह है जो अपनी आत्मा का अवलोकन करता है।"स्वात्मानं पश्यति यःसः पण्डितः।" पढ़-पढ़ के पण्डित बन जाये किन्तु निज वस्तु की खबर न हो तो क्या वह पण्डित है? अक्षरों के ज्ञानी अक्षर का अर्थ भी नहीं समझ पाते। 'क्षर' अर्थात् नाश होने वाला और 'अ' के मायने 'नहीं' अर्थात् मैं अविनाशी हूँ, अजर-अमर हूँ, यह अर्थ है अक्षर का, किन्तु आज का पंडित केवल शब्दों को पकड़ कर भटक जाता है।

शब्द तो केवल माध्यम है अपनी आत्मा को जानने के लिए अन्दर जाने के लिए। किन्तु हमारी दशा उस पंडित की तरह है जो तैरना न जानकर अपने जीवन से भी हाथ धो बैठता था। एक पंडित काशी से पढ़कर आये। देखा, नदी किनारे मल्लाह भगवान की स्तुति में संलग्न है। बोले- "ए मल्लाह! ले चलेगा नाव में, नदी के पार।" मल्लाह ने उसे नाव में बैठा लिया। अब चलते-चलते पंडित जी रौब झाड़ने लगे अपने अक्षर ज्ञान का। मल्लाह से बोले- "कुछ पढ़ा-लिखा भी है? अक्षर लिखना जानता है?" मल्लाह तो पढ़ा-लिखा था ही नहीं, सो कहने लगा-पंडितजी मुझे अक्षर ज्ञान

नहीं है। पंडित बोले तब तो बिना पढ़े तुम्हारा आधा जीवन ही व्यर्थ हो गया। अभी नदी में थोड़े और चले थे कि अचानक तूफान आ गया, पंडित जी घबराने लगे। नाविक बोला-पंडितजी मैं अक्षर लिखना नहीं जानता किन्तु तैरना जरूर जानता हूँ। अक्षर ज्ञान न होने से मेरा तो आधा जीवन गया परन्तु तैरना न जानने से तो आपका सारा जीवन ही व्यर्थ हो गया।

हमें तैरना भी आना चाहिये। तैरना नहीं आयेगा तो हम संसार समुद्र से पार नहीं हो सकते। अत: दूसरों का सहारा ज्यादा मत ढूँढ़ो। शब्द भी एक तरह का सहारा है। उसके सहारे, अपना सहारा लो। अन्तर्यात्रा प्रारम्भ करो। ज्ञेयों का संकलन मात्र तो ज्ञान का दुरुपयोग है। ज्ञेयों में मत उलझो, ज्ञेयों के ज्ञाता को प्राप्त करो। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग से ही 'मैं कौन हूँ', इसका उत्तर प्राप्त हो सकता है।

परमाण नय निक्षेप को न उद्योत अनुभव में दिखै।
दृग ज्ञान सुख बलमय सदा नहिं आन भाव जु मो बिखै।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक कर्म अरु तसु फलनि तैं।
चित पिंड चंड अखण्ड सुगुण-करण्ड च्युत पुनि कलनि तैं॥

शुद्धोपयोग की यह दशा इसी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अत: मात्र साक्षर बने रहने से कोई लाभ नहीं है। 'साक्षर' का विलोम 'राक्षस' होता है। साक्षर मात्र बने रहने से राक्षस बन जाने का भी भय है। अत: अन्तर्यात्रा भी प्रारम्भ करें, ज्ञान का निरन्तर उपयोग करें अपने को शुद्ध बनाने के लिए।

हम अमूर्त हैं, हमें छुआ नहीं जा सकता, हमें चखा नहीं जा सकता, हमें सूँघा नहीं जा सकता, किन्तु फिर भी हम मूर्त बने हुये हैं क्योंकि हमारा ज्ञान मूर्त में संजोया हुआ है। अपने उस अमूर्त स्वरूप की उपलब्धि, ज्ञान की धारा को अन्दर आत्मा की ओर मोड़ने पर ही सम्भव है।

□□

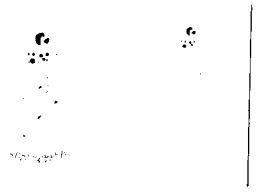

संवेग

□ **जिस प्रकार ललाट पर तिलक के अभाव में स्त्री का सम्पूर्ण श्रृंगार अर्थहीन है, मूर्ति के नहीं होने पर जैसे मंदिर की कोई शोभा नहीं है, उसी प्रकार बिना संवेग के सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं है। संवेग सम्यग्दृष्टि साधक का अलंकार है।**

संवेग का मतलब है संसार से भयभीत होना, डरना। आत्मा के अनन्त गुणों में यह संवेग भी एक गुण है। पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है- सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। संवेग, सराग सम्यग्दर्शन के चार लक्षणों में से एक है। जैसे ललाट पर तिलक के अभाव में स्त्री का श्रृंगार अर्थहीन है, मूर्ति के न होने पर मंदिर की कोई शोभा नहीं है। वैसे ही बिना संवेग के सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं है। संवेग सम्यग्दृष्टि साधक का अलंकार है।

संवेग एक उदासीन दशा है जिसमें रोना भी नहीं है, हँसना भी नहीं है, पलायन भी नहीं है, बैठना भी नहीं है, दूर भी नहीं हटना है और आलिंगन भी नहीं करना है। यह जो आत्मा की अनन्य स्थिति है वह सद्गृहस्थ से लेकर मोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ मुनि महाराज तर्क में प्रादुर्भूत होती है। मुनि पग-पग पर डरता है और सावधान रहकर जीवन जीता है। वह अपने आहार-विहार में, उठने, बैठने और लेटने की सभी क्रियाओं में सदैव जाग्रत रहता है, सजग रहता है। यदि ऐसा न हो तो वह साधु न होकर स्वादु बन जायेगा। साधु का रास्ता तो मनन और चिंतन का रास्ता है। उसकी यात्रा अपरिचित वस्तु (आत्मा) से परिचय प्राप्त करने का उत्कृष्ट प्रयास है। ऐसे संवेग-समन्वित साधु के दर्शन दुर्लभ हैं। आप कहते हैं कि हम 'वीर' की सन्तान हैं। बात सही है। आप 'वीर' की सन्तान तो अवश्य हैं, किन्तु उनके अनुयायी नहीं। सही अर्थों में आप 'वीर' की सन्तान तभी कहे जायेंगे जब उनके बताये मार्ग का अनुसरण करेंगे।

संवेग का प्रारम्भ कहाँ? जब दृष्टि नासाग्र हो, केवल अपने लक्ष्य की ओर हो, और अविराम गति से मार्ग पर चले। आपने सर्कस देखा होगा, सर्कस में तार पर चलने वाला न ताली बजाने वालों की ओर देखता है और न ही लाठी लेकर खड़े आदमी को देखता है। उसका उद्धेश्य इधर-उधर

देखना नहीं है उसका उद्धेश्य तो एकमात्र संतुलन बनाये रखना और अपने लक्ष्य पर पहुँचना होता है। यही बात संवेग की है।

सम्यग्दर्शन के बिना पाप से डरना नहीं होता। संसार से 'भीति' सम्यग्दर्शन का अनन्य अंग है। वीतराग सम्यग्दर्शन में ये 'संवेग' अधिक घनीभूत होता है। संवेग अनुभव और श्रद्धा के साथ जुड़ा हुआ है। इस संवेग की प्राप्ति अति दुर्लभ है। वीतरागता से पूर्व यह प्रस्फुटित होता है और फिर वीतरागता उसका कार्य बन जाती है। संवेग के प्रादुर्भूत होने पर सभी बाहरी आकांक्षायें छूट जाती हैं। जहाँ संवेग होता है वहाँ विषयों की ओर रुचि नहीं रह जाती, उदासीनता आ जाती है।

भरत चक्रवर्ती का वर्णन सही रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। उनके भोगों का वर्णन तो किया जाता है किन्तु उनकी उदासीनता की बात कोई नहीं करता। एक व्यक्ति अपने बारह बच्चों के बीच रहकर बड़ा दु:खी होता है। उसकी पत्नी उससे कहती है- "भरत जी इतने बड़े परिवार के बीच कैसे रहते होंगे। जहाँ छयानवै हजार रानियाँ, अनेकों बच्चे और अपार सम्पदा थी। उनके परिणामों में तो कभी क्लेश हुआ हो, ऐसा सुना ही नहीं गया।" वह व्यक्ति भरत जी की परीक्षा लेने पहुँच जाता है, भरत जी सारी बात सुनकर उसे अपने रनिवास में भेज देते हैं। उस व्यक्ति के हाथ पर तेल से भरा हुआ कटोरा रख दिया जाता है और कह दिया जाता है कि "सब कुछ देख आओ, लेकिन इस कटोरे में से एक बूँद भी नीचे नहीं गिरनी चाहिये अन्यथा मृत्यु-दण्ड दिया जायेगा।" वह व्यक्ति सब कुछ देख आया पर उसका देखना न देखने के बराबर ही रहा, सारे समय बूँद न गिर जाने का भय बना रहा। तब भरतजी ने उसे समझाया, 'मित्र, जागृति लाओ, सोचो, समझो। ये नव निधियाँ, चौदह रत्न, ये छयानवें हजार रानियाँ, ये सब मेरी नहीं हैं। मेरी निधि तो मेरे अंतरंग में छिपी हुई हैं- ऐसा विचार करके ही मैं इन सबके बीच शांत भाव से रहता हूँ।"

रत्नत्रय ही हमारी अमूल्य निधि है। इसे ही बचाना है। इसको लूटने के लिये कर्म चोर सर्वत्र घूम रहे हैं। जाग जाओ, सो जाओगे तो तुम्हारी निधि ही लुट जायेगी।

"कर्म चोर चहूँ ओर सरबस लूटें सुध नहीं"

संवेगधारी व्यक्ति अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है। चाहे वह कहीं भी रहे। किन्तु संवेग से रहित व्यक्ति स्वर्गिक सुखों के बीच भी दु:ख का अनुभव करता है और दुखी ही रहता है। □□

त्यागवृत्ति

□ **त्याग के पहले जागृति परम अपेक्षणीय है। निजी सम्पत्ति की पहचान जब हो जाती है तब विषय-सामग्री निरर्थक लगती है और उसका त्याग सहज सरलता से हो जाता है।**

यथाशक्ति त्याग को 'शक्ति=तस्त्याग' कहते हैं। "शक्ति अनुलंध्य यथाशक्ति" अर्थात् शक्ति की सीमा को पार न करना और साथ ही अपनी शक्ति को नहीं छिपाना इसे यथाशक्ति कहते हैं और इस शक्ति के अनुरूप त्याग करना ही शक्ति=तस्त्याग कहा जाता है।

भारत में जितने भी देवों के उपासक हैं, चाहे वे कृष्ण के उपासक हों, चाहे वे राम के उपासक हों अथवा बुद्ध के उपासक हों, सभी त्याग को सर्वाधिक महत्व देते हैं। ऐसे ही महावीर के भी उपासक हैं, किन्तु महावीर के उपासकों की विशेषता यही है कि उनके त्याग में शर्त नहीं है, हठग्राहिता नहीं है। यदि त्याग में कोई शर्त है तो वह त्याग महावीर का कहा हुआ त्याग नहीं है।

सामान्य रूप से त्याग की आवश्यकता हर क्षेत्र में है। रोग की निवृत्ति के लिए, स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए, जीवन जीने के लिए और इतना ही नहीं, मरण के लिए भी त्याग की आवश्यकता है। जो ग्रहण किया है उसी का त्याग होता है, पहले ग्रहण, फिर त्याग, यह क्रम है। ग्रहण होने के कारण ही त्याग का प्रश्न उठता है। अब त्याग किसका किया जाये? तो अनर्थ की जड़ का त्याग अर्थात् हेय का त्याग किया जाये। कूड़ा-कचरा, मल आदि ये सब हेय पदार्थ हैं। इन हेय पदार्थों के त्याग में कोई शर्त नहीं होती, न ही कोई मुहूर्त निकलवाना होता है, क्योंकि इनके त्याग के बिना न सुख है, न शान्ति। इन्हें त्यागे बिना तो जीवन भी असम्भव हो जायेगा।

त्याग करने में दो बातों का ध्यान रखना परम अपेक्षणीय है। पहला यह कि दूसरों की देखा-देखी त्याग नहीं करना और दूसरा ये कि अपनी शक्ति की सीमा का उल्लंघन नहीं करना क्योंकि इससे सुख के स्थान पर कष्ट की ही आशंका अधिक है।

त्याग में कोई शर्त नहीं होनी चाहिए। किन्तु हमेशा से आप लोगों का त्याग शर्तयुक्त रहा है। दान के समय भी आप लोगों ध्यान आदान में लगा रहता है। यदि कोई व्यक्ति सौ रुपये के सवा सौ रुपये प्राप्त करने के लिये त्याग करता है तो वह कोई त्याग नहीं माना जायेगा। यह दान नहीं है, आदान है। एक विद्वान् ने लिखा है कि दान तो ऐसा देना चाहिये जो दूसरे हाथ को भी मालूम न पड़े। यदि त्याग किये हुये पदार्थ में लिप्सा लगी रही, इच्छा बनी रही, यदि इस पदार्थ के भोगने की वासना हमारे मन में चलती रही और अधिक प्राप्ति की आकांक्षा बनी रही तो यह त्याग नहीं कहलायेगा।

बाह्य मलों के साथ-साथ अंतरंग में रागद्वेष रूपी मल भी विद्यमान है जो हमारी आत्मा के साथ अनादि काल से लगा हुआ है। इसका त्याग करना/छोड़ना ही वास्तविक त्याग है। ऐसे पदार्थों का त्याग करना ही श्रेयस्कर है जिनसे रागद्वेष, विषय-कषायों की पुष्टि होती है।

अजमेर में एक सज्जन मेरे पास आये और बोले- "महाराज, मेरा तो भाव-पूजा में मन लगता है, द्रव्य-पूजन में नहीं।" तो मैंने कहा, भइया, ये तो दान से बचने के लिए पगडण्डियाँ हैं। पेट-पूजा के लिए कोई भाव-पूजा की बात नहीं करता। इसी तरह भगवान की पूजा के लिये सस्ते पदार्थों का उपयोग करना और खाने-पीने के लिये उत्तम से उत्तम पदार्थ लेना यह भी सही त्याग नहीं है। तब उनके लिये सुरभित सुगन्धित पदार्थ क्यों चढ़ाना, ये हमारे मन की विचित्रता है। पूजा का मतलब तो यह है कि भगवान के सम्मुख गद्‌गद् होकर विषयों और कषायों का समर्पण किया जाये। जब तक इस प्रकार का समग्र-समर्पण नहीं होता तब तक पूजा की सार्थकता नहीं है।

त्याग के पहले जागृति परम अपेक्षणीय है। निजी सम्पत्ति की पहिचान जब हो जाती है, उस समय विषय-सामग्री कूड़ा-कचरा बन जाती है और उसका त्याग सहज हो जाता है। इस कूड़े-कचरे के हटने पर अपनी अन्तरंग की मणि अलौकिक ज्योति के साथ प्रकाशित हो उठती है। त्याग से ही आत्मारूपी हीरा चमक उठता है। जैसे कूड़ा-कचरा जब साफ हो जाता है तब जल निर्बाध प्रवाहित होने लगता है, इसी प्रकार विषय-भोगों का कूड़ा-कचरा जब हट जाता है तो ज्ञान की धारा निर्बाध अन्दर की ओर प्रवाहित होने लगती है।

"आतम के अहित विषय-कषाय। इनमें मेरी परिणित न जाय" और "यह राग-आग दहै सदा तातें समामृत सेइये। चिर भजे विषय कषाय अबतो त्याग निज पद वेइये।।"

ये राग तपन पैदा करता है। विषय-कषाय हमें जलाने वाले हैं। यह हमारा पद नहीं है। यह 'पर' पद है। अपने पद में आओ। आज तक हम आस्रव में जीवित रहे हैं। निर्जरा कभी हमारा लक्ष्य नहीं रहा। इसलिये दुःख उठाते रहे। जब तक हम भोगों का विमोचन नहीं करेंगे, उपास्य नहीं बन पायेंगे।

योग जीवन है, भोग मरण है। योग सिद्धत्व को प्रशस्त करने वाला है और भोग नरक की ओर ले जाने वाला है। आस्था जागृत करो। विश्वास/आस्था के अभाव में ही हम स्व-पद की ओर प्रयाण नहीं कर पाये हैं। त्याग के प्रति अपनी आत्मा मजबूत करो ताकि शाश्वत सुख को प्राप्त कर सको।

□□

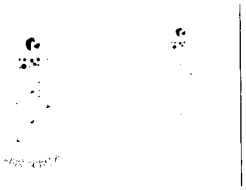

सत्-तप

□ **तप, दोषों की निवृत्ति के लिए परम रसायन है। मिट्टी भी तपकर ही पूज्य बनती है। अग्नि की तपन को पार करके ही वह पात्र के रूप में उपयोगी बन जाती है।**

भारत भूमि का एक-एक कण तपस्वियों की पद-रज से पुनीत बन चुका है। तप की प्रशंसा केवल इन महर्षियों, योगियों और तपोभूत पुरुषों द्वारा ही नहीं गायी गयी; अन्य पुरूषों, कवियों ने भी तप की यशोगाथा गायी है। राष्ट्र कवि स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है-

नारायण नारायण धन्य है नर साधना।
इन्द्रपद ने की है जिसकी शुभाराधना॥

भोगासक्त देवों ने भी इस तप-साधना की प्रशंसा की है। वे स्वर्गों से उतरकर उनका कीर्तन-पूजन करने के लिये आते हैं जो नर से नारायण बनने की साधना में लगे हैं।

तप दोषों की निवृति के लिये परम रसायन है। मिट्टी भी तपकर ही पूज्य बनती है। जब वह अग्नि की तपन को पार कर लेती है तब पक्के पात्र घड़े आदि का रूप धारण कर लेती है और आदर प्राप्त करती है। कहा भी है- 'पहले कष्ट फिर मिष्ट'। पदार्थ की महत्ता वेदना सहकर ही होती है।

आप दु:खी होने पर सुख का रास्ता ढूँढ़ते हैं और साधु समागम में आते हैं। साधु-समागम में सुख मानकर भी यदि कुछ प्राप्त नहीं करते तो आपका आना व्यर्थ ही होगा। जिस भू-तल पर हम रहते हैं वह एक प्रकार का जंक्शन है। प्रत्येक दिशा में यहाँ से मार्ग जाते है। यहाँ से नरक की ओर यात्रा की जा सकती है, स्वर्ग जाया जा सकता है, पशु-योनि को पाया जा सकता है; मनुष्य भी पुन: हुआ जा सकता है और परमात्मा पद की उपलब्धि भी की जा सकती है। जहाँ भी जाना चाहें, जा सकते हैं। साधना स्वाश्रित है।

गृहस्थी में आतप है, कष्ट है, छटपटाहट है। जैसे पूड़ी कड़ाही में छटपटाती है, वही दशा गृहस्थ की होती है। तप द्वारा उस कष्ट का निवारण संभव है। एक बार गृहस्थ अवस्था में मेरी बाँह मोच गयी थी, मैंने "स्लोन्स बाम" लगायी। उससे सारा दर्द धीरे-धीरे जाता रहा। इसी तरह संसार की

वेदना को मिटाने के लिये तप रूपी बाम का उपयोग करना होगा। कार्य सिद्धि के लिए तप अपनाना ही होगा। लोहे की छड़ आदि जब टेढ़ी हो जाये तो केवल तपाकर ही उसे सीधा बनाया जा सकता है अन्यथा सभी साधन व्यर्थ हो जाते हैं। उसी प्रकार विषय और कषाय के टेढ़ेपन की निवृत्ति के लिये आत्मा को तपाना ही एकमात्र अव्यर्थ साधन है।

इच्छा का निरोध कौन करे? वानर? नहीं नर, केवल नर। वानर तो पशु है। नारकी भी नहीं कर सकते। देव भी नहीं कर सकते। ये सब तो अपनी गलती का प्रायश्चित कर सकते हैं। साधना तो केवल नर ही कर सकता है। धन्य है नर साधना! नर-पद एक ऐसा मैदान है जहाँ पर नारायण बनने का खेल खेला जा सकता है। अभी कुछ दिन पहले एक सज्जन कह रहे थे "धन्य है हमारी यह सुहाग नगरी! फिरोजाबाद! इसने आचार्य महावीर कीर्ति जैसी मूर्ति को उत्पन्न किया है।" ठीक है महावीर कीर्ति महाराज यहाँ पैदा हुये और उन्होंने साधना द्वारा अपना कल्याण किया, किन्तु आपको क्या मिला? आप भी महावीर कीर्ति महाराज जैसे बने क्या? महावीर कीर्ति महाराज जैसे तपस्वी आपके लिये आदर्श तो बन सकते हैं आपकी कालिमा का संकेत दे सकते हैं किन्तु वे स्वयं आपकी कालिमा मिटा नहीं सकते दर्पण आपके मुख पर लगे धब्बे को दिखा सकता है लेकिन वह धब्बा जब भी मिटेगा आपके प्रयास से ही मिटेगा। आपको यह मनुष्य जीवन मिला है तो साधना करनी ही चाहिये, अन्यथा आप जानते ही हैं कि 'तप' का विलोम 'पत' होता है अर्थात् गिरना। साधना के अभाव में पतन ही होगा।

इच्छाएँ प्रत्येक के पास हैं किन्तु इच्छा का निरोध केवल तप द्वारा ही संभव है। यदि इच्छाओं का निरोध नहीं हुआ, तो ऐसा तप भी तप नहीं कहा जायेगा 'तपसा निर्जरा च' अर्थात तप से निर्जरा भी होती है। यदि तप करने में आकुलता हो और निर्जरा न हो तो वह तप भी तप नहीं है। साधन वही है जो साध्य को, दिशा/लक्ष्य/मंजिल दिला दे सके, कारण वही साधकतम है जो कार्य को सम्पन्न करा दे। औषधि वही है जो रोग की निवृत्ति कर दे। तप वही है जो नर से नारायण बना दे।

गृहस्थ भी घर में थोड़ी-बहुत साधना कर सकता है किन्तु आज तो वह भी नहीं होती। आज का गृहस्थ तो राग-द्वेष और विषय-कषाय में अनुरक्त रह कर उपास्य की मात्र शाब्दिक उपासना कर रहा है। एक राजा था। वह अपने राज्य में दुष्टों का निग्रह करता था और शिष्ट प्रजा का पालन करता

था। एक बार लोगों ने राजा से शिकायत की- "महाराज, आपके राज्य में एक व्यक्ति ऐसा पैदा हो गया है जो आपकी आज्ञा का पालन नहीं करता और न ही आपका राज्य छोड़ना चाहता है।" उसे राजा ने बुलाकर बड़े प्रेम से उसकी आवश्यकताओं की जानकारी ली। एक-एक करके उसने अपनी ढेरों आवश्यकताएं राजा के सामने रखी। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह व्यक्ति इतनी इच्छाएँ तो रखता है परंतु पुरूषार्थ कुछ भी नहीं करना चाहता। आवश्यकता आविष्कार की जननी है, परंतु आज तो आविष्कार जितने अधिक हो रहे हैं उतनी ही अधिक आवश्यकताऐं बढ़ रही हैं। राजा को उस व्यक्ति की इतनी प्रबल इच्छाएं देख कर उसे अपने राज्य से निकल जाने का आदेश देना पड़ा। इच्छाओं के कारण उस व्यक्ति को हमेशा दु:ख झेलना पड़ा।

अत: केवल आवश्यकता की वस्तुएँ रखो, शेष से नाता तोड़ लो। उपासना वासना नहीं है। उपासना में तो वासना का निरोध है। वासना के निरोध से ही उपास्य से सम्बंध स्थापित हो सकता है।

कुछ समयसार पाठी सज्जन मेरे पास आते हैं कहते हैं, "महाराज, हमें तो कुछ इच्छा है नहीं। न खाने की इच्छा है, न पीने की इच्छा है और न कोई अन्य इच्छा होती है। सब कुछ सानंद चल रहा है।" उनकी बात सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। अगर खाने की इच्छा नहीं है तो फिर लडडू आदि मुँह में ही क्यों डाले जा रहे हैं, कान में या कि और किसी के मुँह में क्यों नहीं डाल देते। बिना इच्छा के ये सब क्रियायें कैसे चल सकती हैं। प्रवृत्ति इच्छा के बिना नहीं होती। प्रवृत्ति को छोड़कर निवृत्ति के मार्ग पर जाना ही श्रेयस्कर है।

□□

साधु-समाधि; सुधा-साधन

□ हर्ष विवाद से परे आत्म-सत्ता की सतत अनुभूति ही सच्ची समाधि है।

यहाँ समाधि का अर्थ मरण से है। साधु का अर्थ है श्रेष्ठ/अच्छा अर्थात् श्रेष्ठ/आदर्श, मृत्यु को साधु-समाधि कहते हैं। 'साधु' का दूसरा अर्थ 'सज्जन' से है। अत: सज्जन के मरण को भी साधु-समाधि कहेंगे। ऐसे आदर्श-मरण को यदि हम एक बार भी प्राप्त कर लें तो हमारा उद्धार हो सकता है।

जन्म और मरण किसका? हम बच्चे के जन्म के साथ मिष्ठान्न वितरण करते हैं। बच्चे के जन्म के समय सभी हंसते हैं, किन्तु बच्चा रोता है। इसलिये रोता है कि उसके जीवन के इतने क्षण समाप्त हो गये। जीवन के साथ ही, मरण का भय शुरू हो जाता है। वस्तुत: जीवन और मरण कोई चीज नहीं है। यह तो पुद्गल का स्वभाव है, वह तो बिखरेगा ही।

आपके घरों में पंखा चलता है। पंखे में तीन पंखड़ियाँ होती हैं। और जब पंखा चलता है तो एक पंखुड़ी मालूम पड़ती है। ये पंखुड़ियाँ उत्पाद, व्यय। ध्रौव्य की प्रतीक हैं और पंखे के बीच का डंडा जो और है वह सत् का प्रतीक है। हम वस्तु की शाश्वतता को नहीं देखते, केवल जन्म-मरण के पहलुओं से चिपके रहते हैं जो भटकाने/घुमाने वाला है।

समाधि ध्रुव है, वहाँ न आधि है, न व्याधि है और न ही कोई उपाधि है। मानसिक विकार का नाम आधि है। शारीरिक विकार व्याधि है। बुद्धि के विकार को उपाधि कहते हैं। समाधि मन, शरीर और बुद्धि से परे हैं। समाधि में न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है और न विषाद। जन्म और मृत्यु शरीर के हैं। हम विकल्पों में फँस कर जन्म-मृत्यु का दु:ख उठाते हैं। अपने अन्दर प्रवाहित होने वाली अक्षुण्ण चैतन्य-धारा का हमें कोई ध्यान ही नहीं। अपनी त्रैकालिक सत्ता को पहिचान पाना सरल नहीं है। समाधि तभी होगी जब हमें अपनी सत्ता की शाश्वतता का भान हो जायेगा। साधु-समाधि वही है जिसमें मौत को मौत के रूप में नहीं देखा जाता है। जन्म को भी अपनी आत्मा का जन्म नहीं माना जाता। जहाँ न सुख का विकल्प है और न दु:ख का।

आज ही एक सज्जन ने मुझ से कहा "महाराज, कृष्ण जयन्ती है आज।" मैं थोड़ी देर सोचता रहा। मैंने पूछा "क्या कृष्ण जयन्ती मनाने वाले कृष्ण की बात आप मानते हैं? कृष्ण गीता में स्वयं कह रहे हैं कि मेरी जन्म-जयन्ती न मनाओ। मेरा जन्म नहीं, मेरा मरण नहीं। मैं तो केवल सकल ज्ञेय ज्ञायक हूँ। त्रैकालिक हूँ। मेरी सत्ता तो अक्षुण्ण है।" अर्जुन युद्ध-भूमि में खड़े थे। उनका हाथ अपने गुरुओं से युद्ध के लिये नहीं उठ रहा था। मन में विकल्प था कि "कैसे मारूँ अपने ही गुरुओं को।" वे सोचते थे चाहे, मैं भले ही मर जाऊँ किन्तु मेरे हाथ से गुरुओं की सुरक्षा होनी चाहिये। मोहग्रस्त ऐसे अर्जुन को समझाते हुये श्री कृष्ण ने कहा-

जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु र्ध्रुवो जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।

जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जिसकी मृत्यु है उसका जन्म भी अवश्य होगा। यह अपरिहार्य चक्र है, इसलिये हे अर्जुन! सोच नहीं करना चाहिये।

अर्जुन! उठाओ अपना धनुष और क्षत्रिय-धर्म का पालन करो। सोचो, कोई किसी को वास्तव में मार नहीं सकता। कोई किसी को जन्म नहीं दे सकता। इसलिये अपने धर्म का पालन श्रेयकर है। जन्म-मरण तो होते ही रहते हैं। आविचि मरण तो प्रति समय हो ही रहा है। कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से, और हम हैं केवल जनम-मरण के चक्कर में, क्योंकि चक्कर में भी हमें शक्कर-सा अच्छा लग रहा है।

तन उपजत अपनी उपज जान ।
तन नशत आपको नाश मान ॥
रागादि प्रकट जे दु:ख दैन ।
तिन ही को सेवत गिनत चैन ॥

हम शरीर की उत्पत्ति के साथ अपनी उत्पत्ति और शरीर-मरण के साथ अपना मरण मान रहे हैं। अपनी वास्तविक सत्ता का हमको भान ही नहीं। सत् की ओर हम देख ही नहीं रहे हैं। हम जीवन और मरण के विकल्पों में फँसे हैं किन्तु जन्म-मरण के बीच जो ध्रुव सत्य है उसका चिन्तन कोई नहीं करता। साधु-समाधि तो तभी होगी जब हमें अपनी शाश्वत सत्ता का अवलोकन होगा। अत: जन्म-जयन्ती न मनाकर हमें अपनी शाश्वत सत्ता का ही ध्यान करना चाहिये, उसी की सँभाल करनी चाहिये। □□

वैयावृत्त्य

□ **वास्तव में दूसरे की सेवा करने में हम अपनी ही वेदना मिटाते हैं। दूसरों की सेवा में निमित्त बनकर अपने अंतरंग में उतरना ही सबसे बड़ी सेवा है।**

वैयावृत्य का अर्थ है-सेवा, सुश्रुषा, अनुग्रह, उपकार। सेवा की चर्चा करते ही हमारा ध्यान पड़ोसी की ओर चला जाता है। बचाओं शब्द कान में आते ही हम देखने लग जाते हैं कि किसने पुकारा है, कौन अरक्षित है और हम उनकी मदद के लिये दौड़ पड़ते हैं। किन्तु अपने पास में जो आवाज उठ रही है उसकी ओर आज तक हमारा ध्यान नहीं गया। सुख की खोज में निकले हुये पथिक की वैयावृत्ति आज तक किसी ने नहीं की। सेवा,तभी हो सकती है जब हमारे अन्दर सभी के प्रति अनुकम्पा जागृत हो जाये। अनुकम्पा के अभाव में न हम अपनी सेवा कर सकते हैं और न दूसरे की ही सेवा कर सकते हैं।

सेवा किसकी? ये प्रश्न बड़ा जटिल है। लौकिक दृष्टि से हम दूसरे की सेवा भले कर लें किन्तु पारमार्थिक क्षेत्र में सबसे बड़ी सेवा अपनी ही हो सकती है। आध्यात्मिक दृष्टि से किसी अन्य की सेवा हो ही नहीं सकती। भगवान का उपकार भी उसी को प्राप्त हो सकता है जो अपना उपकार करने में स्वयं अपनी सहायता करते हैं। दूसरों का सहारा लेने वाले पर भगवान कोई अनुग्रह नहीं करते। सेवा करने वाला वास्तव में अपने ही मन की वेदना मिटाता है। यानी अपनी ही सेवा करता है। दूसरे की सेवा में अपनी ही सुख-शांति की बात छिपी रहती है।

मुझे एक लेख पढ़ने को मिला। उसमें लिखा था कि इंग्लैण्ड का गौरव उसके सेवकों में निहित है। किन्तु सच्चा सेवक कौन? तो एक व्यक्ति कहता है कि "चाहे सारी सम्पत्ति चली जाय, चाहे सूर्य का आलोक भी हमें प्राप्त न हो किन्तु हम अपने देश के श्रेष्ठ कवि शेक्सपियर को किसी कीमत पर नहीं छोड़ सकते। वह देश का सच्चा सेवक है" कहा भी है-जहाँ न पहुँचे रवि वहां पहुँचे कवि' ठीक है, कवि गूढ़ तत्व का विश्लेषण कर सकता है किन्तु एक काम तो वह भी नहीं कर सकता, वह 'निजानुभवी नहीं बन सकता।' "ऐसा कहा जा सकता है कि जहाँ न पहुँचे कवि, वहाँ पहुँचे

निजानुभवी"-भारत देश अनुभव को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानता है। कवि और चित्रकार प्रकृति के चित्रण में सक्षम है किन्तु यही मात्र हमारा लक्ष्य नहीं, है। स्वानुभव ही गति है और हमारा लक्ष्य भी है। स्वानुभवी बनने के लिये स्व-सेवा अनिवार्य है। स्वयंसेवक बनो, पर सेवक मत बनो। मात्र भगवान के सेवक भी स्वयं सेवक नहीं बन पाते। 'खुदा का बन्दा' बनना आसान है किन्तु 'खुद का बन्दा' बनना कठिन है। खुद के बन्दे बनो। भगवान की सेवा आप क्या कर सकेंगे? वे तो निर्मल और निराकार बन चुके है। उनके समान निर्मल और निराकार बनना ही उनकी सच्ची सेवा है।

हम शरीर की तड़पन तो देखते हैं किन्तु आत्मा की पीड़ा नहीं पहचान पाते। यदि हमारे शरीर में कोई रात को भी सुई चुभो दे तो तत्काल हमारा समग्र उपयोग उसी स्थान पर केन्द्रित हो जाता है। हमें बड़ी वेदना होती है किन्तु आत्म-वेदना को हमने आज तक अनुभव नहीं किया। शरीर की सड़ाँध का हम इलाज करते हैं किन्तु अपने अंतर्मन की सड़ाँध/उत्कट दुर्गन्ध को हमने कभी असह्य माना ही नहीं। आत्मा में अनादि से बसी हुई इस दुर्गन्ध को निकालने का प्रयास ही वैयावृत्त्य का मंगलाचरण है।

हमारे गुरुवर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने 'कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन' नाम के अपने ग्रंथ में एक घटना का उल्लेख किया है। एक जज साहब कार में जा रहे हैं अदालत की ओर। मार्ग में देखते हैं कि एक कुत्ता नाली में फँसा हुआ है। जीवैषणा है उसमें किन्तु प्रतीक्षा है कि कोई आ जाये और उसे कीचड़ से बाहर निकाल दे। जज साहब कार रुकवाते हैं और पहुँच पाते हैं उस कुत्ते के पास। उनके दोनों हाथ नीचे झुक जाते हैं और झुककर वे उस कुत्ते को निकाल कर सड़क पर खड़ा कर देते हैं। सेवा वही कर सकता है जो झुकना जानता है। बाहर निकलते ही उस कुत्ते ने एक बार जोर से सारा शरीर हिलाया और पास खड़े जज साहब के कपड़ों पर ढेर सारा कीचड़ लग गया। सारे कपड़ों पर कीचड़ के धब्बे लग गये। किन्तु जज साहब घर नहीं लौटे। उन्हीं वस्त्रों में पहुँच गये अदालत में। सभी चकित हुये किन्तु जज साहब के चेहरे पर आलौकिक आनन्द की अद्‌भुत आभा खेल रही थी। वे शांत थे। लोगों के बार-बार पूछने पर बोले "मैंने अपने हृदय की तड़पन मिटाई है, मुझे बहुत शांति मिली है।"

वास्तव में, दूसरे की सेवा करने में हम अपनी ही वेदना मिटाते हैं। दूसरों की सेवा हम कर ही नहीं सकते। दूसरे तो मात्र निमित्त बन सकते हैं। उन निमित्तों के सहारे अपने अंतरंग में उतरना, यही सबसे बड़ी सेवा है। वास्तविक

सुख स्वावलम्बन में है। आरम्भ में छोटे-छोटे बच्चों को सहारा देना होता है किन्तु बड़े होने पर उन बच्चों को अपने पैरों पर बिना दूसरे के सहारे खड़े होने की शिक्षा देनी होगी। आप हमसे कहें कि महाराज आप उस कुत्ते को कीचड़ में से निकालेंगे या नहीं, तो हमें कहना होगा कि हम उसे निकालेंगे नहीं; हाँ, उसको देखकर अपने दोषों का शोधन अवश्य करेंगे। आप सभी को देखकर भी हम अपना ही परिमार्जन करते हैं क्योंकि हम सभी मोह कर्दम में फंसे हुये हैं। बाह्य कीचड़ से अधिक घातक यह मोह-कर्दम है।

आपको शायद याद होगा हाथी का किस्सा जो कीचड़ में फँस गया था। वह जितना निकलने का प्रयास करता उतना अधिक उसी कीचड़ में धँसता जाता था। उसके निकलने का एक ही मार्ग था कि कीचड़ सूर्य के आलोक से सूख जाये। इसी तरह आप भी संकल्पों-विकल्पों के दल-दल में फँस रहे हो। अपनी ओर देखने का अभ्यास करो, तब अपने आप ही ज्ञान की किरणों से यह मोह की कीचड़ सूख जायेगी। बस, अपनी सेवा में जुट जाओ, अपने आप को कीचड़ से बचाने का प्रयास करो। भगवान महावीर ने यही कहा है- "सेवक बनो स्वयं के" और खुदा ने भी यही कहा है "खुद का बन्दा बन।" एक सज्जन जब भी आते हैं एक अच्छा शेर सुनाकर जाते हैं। हमें याद हो गया-

अपने दिल में डूबकर पा ले, सुरागे जिन्दगी।
तू अगर मेरा नहीं बनता, न बन, अपना तो बन॥

□□

अर्हत्भक्ति

□ **भक्ति-गंगा की लहर हृदय के भीतर से प्रवाहित होनी चाहिये और पहुँचनी चाहिये वहाँ, जहाँ निस्सीमता है।**

आज हम अर्हत्भक्ति की प्ररूपणा करेंगे। अर्हतीति अर्हत् अर्थात् जो पूज्य है उनकी उपासना, उनकी पूजा करना। इसी को अर्हत्भक्ति कहते हैं। किन्तु प्रश्न है पूज्य कौन? किसी ने कहा था-"भारत देश की विशेषता ही ये है कि यहाँ पूज्य ज्यादा हैं और पूजने वाले कम हैं।" उपास्य ज्यादा हैं उपासक कम। जब पूज्यों की कमी हुई तो प्रचुर मात्रा में मूर्तियों का निर्माण होने लगा। पूज्य कौन है? इसी प्रश्न का उत्तर पहले खोजना होगा क्योंकि पूज्य की भक्ति ही वास्तविक भक्ति हो सकती है। अन्य भक्तियां तो स्वार्थ साधने के लिये भी हो सकती हैं। पूज्य की भक्ति में गतानुगतिकता के लिये स्थान नहीं है। दो सम्यग्दृष्टियों के भाव, विचार और अनुभव में अन्तर होना संभव है। भले ही लक्ष्य एक हो क्योंकि अनुभूति करना हमारे अपने हाथ की बात है। भाव तो असंख्यात लोक प्रमाण है।

आज से कई वर्ष पूर्व दक्षिण से एक महाराज आये थे। उन्होंने एक घटना सुनाई। दक्षिण में एक जगह किसी उत्सव में जुलूस निकल रहा था। मार्ग थोड़ा सकरा था पर साफ सुथरा था। अचानक कहीं से आकर एक कुत्ते ने उस मार्ग में मल कर दिया। स्वयं-सेवक देखकर सोच में पड़ गया। परन्तु जल्दी ही विचार करके उसने उस मल पर थोड़े से फूल डाल कर ढक दिया। अब क्या था एक-एक करके जुलूस में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति ने उस पर फूल चढ़ाये और वहाँ फूलों का अम्बार लग गया। वह स्थल पूज्य बन गया। ऐसी मूढ़ता के लिये भक्ति में कोई स्थान नहीं है।

भक्ति किसकी? जो भक्तों से कहे, "आ जाओ मेरी ओर, और मेरी पूजा करो, मैं तुम्हें शरण दूँगा।" ऐसा कहने वाला भगवान नहीं हो सकता। जहाँ लालसा है ख्याति की, वहाँ भगवान कैसे? काम-भोग की आकांक्षा रखने वालों से भगवान का क्या वास्ता? 'भगवान भक्त के वश में होते आये' इस कहावत का भी अर्थ गहराई से समझना पड़ेगा। भगवान तो चुम्बक हैं जो उस लोहे को अपनी ओर खींच लेते हैं जिसे मुक्ति की कामना है। उस पाषाण को कभी नहीं खींचते जिसे भुक्ति की कामना है।

भक्ति-गंगा की लहर हृदय के भीतर से प्रवाहित होनी चाहिए और पहुँचनी चाहिए वहाँ, जहाँ निस्सीमता है। गंगा के तट पर पहुँचकर एक आदमी चुपचाप नदी का बहना देखता रहा। उसके गंगा से यह पूछने पर कि वह कहाँ दौड़ी चली जा रही है? नदी ने मौन उत्तर दिया "वहाँ जा रही हूँ, जहाँ मुझे शरण मिले।" पहाड़ों में शरण नहीं मिली। मरुभूमि और गड्ढों में मुझे शरण नहीं मिली, जहाँ सीमा है, वहाँ शरण मिल नहीं सकती, नदी की शरण तो सागर में है, जहाँ पहुँच कर बिन्दु सिन्धु बन जाता है और जहाँ इन्दु भी गोद में समा जाता है।

पूजा करो, पूर्ण की करो। अनंत की करो। लोक में विख्यात है कि सुखी की पूजा करोगे तो तुम स्वयं भी सुखी बन जाओगे। गंगा, सिंधु के पास पहुँच कर स्वयं भी सिंधु बन गयी। वहाँ गंगा का अस्तित्व मिटा नहीं, बिंदु मिटी नहीं, सागर के समान पूर्ण हो गयी। जैसे एक कटोरे-जल में लेखनी द्वारा एक कोने से स्याही का स्पर्श कर देने से सारे जल में स्याही फैल जाती, है इसी तरह गंगा भी सारे सिंधु पर फैल गयी अपने अस्तित्व को लिए हुए। इसे जैनाचार्यों ने स्पर्द्धक की संज्ञा दी है जिसका अर्थ है शक्ति। यह कहना उपयुक्त होगा कि भगवान भक्त के वश में होते आये और भक्त भगवान के वश में होते आये, क्योंकि जहाँ आश्लेष हो जाये, वही है असली भक्ति का रूप।

हमारी मुक्ति नहीं हो रही क्योंकि हमारी भक्ति में भुक्ति की इच्छा है। जहाँ लालसा हो, भोगों की इच्छा हो, वहाँ मुक्ति नहीं। भक्ति में तो पूर्ण समर्पण होना चाहिए। पर समर्पण है कहाँ? हम तो केवल भोगों के लिए भक्ति करते हैं अथवा हमारा ध्यान पूजा के समय भी जूतों-चप्पलों की ओर ज्यादा रहता है। मैंने एक सज्जन को देखा भक्ति करते हुए। एक हाथ चाबियों के गुच्छे पर और एक हाथ भगवान की ओर उठा हुआ। यह कौन-सी भक्ति हुई, भइया बताओ। कल आपको क्षुल्लकजी ने यमराज के विषय में सुनाया था। दांत गिरने लगे, वृद्धावस्था आ गई तो अब समझो श्मशान जाने का समय समीप आ गया किन्तु आप तो नई बत्तीसी लगवा लेते हैं क्योंकि अभी भी रसों की भुक्ति बाकी है रसों की भक्ति वाला कभी मुक्ति की ओर देखता नहीं। भक्ति मुक्ति के लिए है और भुक्ति संसार के लिए है। हम अपने परिणामों से ही भगवान से दूर हैं और परिणामों की निर्मलता से ही उन्हें पा सकते हैं।

भक्ति करने के लिए भक्त को कहीं जाना नहीं पड़ता। भगवान तो सर्वज्ञ और सर्वव्यापी हैं। जहाँ बैठ जाओ, वहीं भक्ति कर सकते हो। हमारे भगवान किसी को बुलाते नहीं और यदि आप वहाँ पहुँच जायेंगे तो आपको दुतकारेंगे भी नहीं। क्या सागर, गंगा नदी से कहने गया कि तू आ, किन्तु नदी बहकर सागर तक गई तो सागर ने उसे भगाया भी नहीं। मन्दिर उपयोग को स्थिर करने के लिये हैं। किन्तु सबके उपयोग को स्थिर करने में निमित्त बने, ये जरूरी नहीं है।

जैनाचार्यों ने कहा, "जो अर्हत को जानेगा, वह खुद को भी जानेगा।" पूज्य कौन है? मैं स्वयं पूज्य, मैं स्वयं उपास्य। मैं स्वयं साहूकार हूँ तो भीख किससे माँगू?

मैं ही उपास्य जब हूँ स्तुति अन्य की क्यों?
मैं साहूकार जब हूँ, फिर याचना क्यों?"

बाहर का कोई भी निमित्त हमें अर्हत् नहीं बना सकता। अर्हत् बनने में साधन भर बन सकता है, अर्हत् बनने के लिए दिशा-बोध भर दे सकता है पर बनना हमें ही होगा। इसीलिये भगवान महावीर और राम ने कहा- "तुम स्वंय अर्हत् हो।" हमारी शरण में आओ, ऐसा नहीं कहा। कहेंगे भी नहीं। ऐसे ही भगवान वास्तव में पूज्य हैं। तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने अन्दर डूब जायें। मात्र बाहर का सहारा पकड़ कर बैठने से अर्हन्त पद नहीं मिलेगा।

जब तक भक्ति की धारा बाहर की ओर प्रवाहित रहेगी तब तक भगवान अलग रहेंगे और भक्त अलग रहेगा। जो अर्हत् बन चुके हैं उनसे दिशा-बोध ग्रहण करो और अपने में डूब कर उसे प्राप्त करो। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।' यही है सच्ची अर्हत् भक्ति की भूमिका। गहरे पानी पैठ वाली बात को लेकर आपको एक उदाहरण सुनाता हूँ। एक पण्डित जी रोज सूर्य को नदी के किनारे एक अंजुलि जल देते थे और फिर नदी में गोता लगाकर निकल आते थे। एक गड़रिया जो रोज उन्हें ऐसा करते देखता था उसने पूछा- महाराज, यह गोता क्यों लगाते हो पानी में? पंडित जी बोले-तू क्या जाने गड़रिये, ऐसा करने से भगवान के दर्शन होते हैं।" भगवान के दर्शन, ओह! आपका जीवन धन्य है, मैं भी करके देखूँगा और इतना कहकर गड़रिया चला गया। दूसरे दिन पंडित जी के आने से पहिले वह नदी में कूद गया और डूबा रहा दस मिनट पानी में। जल देवता, उसकी भक्ति और विश्वास देखकर दर्शन देने आ गये और पूछा- माँग वरदान, क्या माँगता है?

गड़रिया आनंद से भरकर बोला- "दर्शन हो गए प्रभु के अब कोई माँग नहीं।" प्रभु के दर्शन के बाद कोई माँग शेष नहीं रहती। ऐसे ही गहरे अपने अन्दर उतरना होगा, तभी प्राप्ति होगी। प्रभु या स्वयं या आत्मा की। महावीर जी में मैंने देखा एक सज्जन को। घड़ी देखते जा रहे हैं और लगाये जा रहे हैं चक्कर मंदिर के। पूछने पर बताया, "एक हजार आठ चक्कर लगाना है। पहले एक सौ आठ चक्कर लगाए थे, बड़ा लाभ हुआ था।" ऐसे चक्कर से, जिसमें आकुलता हो, कुछ नहीं मिलता। भक्ति का असली रूप पहिचानो, तभी पहुँचोगे मंजिल पर, अन्यथा संसार की मरुभूमि में ही भटकते रह जाओगे।

□□

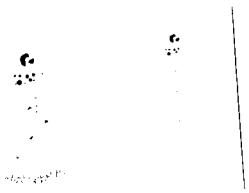

आचार्य-स्तुति

□ **आचार्य स्वयं भी तैरता है और दूसरों को भी तैराता है। आचार्य नौका के समान है। वह पूज्य है।**

इन भावनाओं के अंतर्गत अरहंत परमेष्ठी के बाद आचार्य परमेष्ठी की भक्ति का विवेचन है। सिद्ध परमेष्ठी को यहाँ ग्रहण नहीं किया गया क्योंकि उपयोगिता के आधार पर ही महत्व दिया जाता है। जैनेतर साहित्य में भी भगवान से बढ़कर गुरु की ही महिमा का यशोगान किया है।

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपकी गोविंद दियो बताय।।

'बताय' शब्द के स्थान पर यदि 'बनाय' शब्द रख दिया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि गुरु शिष्य को भगवान बना देते हैं। इसीलिये उन्हें तरणतारण कहा गया है। गुरु स्वयं तो सत्पथ पर चलते हैं, दूसरों को भी चलाते हैं। चलने वाले की अपेक्षा चलाने वाले का काम अधिक कठिन है। रास्ता दूसरों को तारता है इसलिए वह तारण कहलाता है। पुल भी तारण है। किन्तु रास्ता और पुल दोनों स्वयं खड़े रह जाते हैं। 'गुरु' स्वयं भी तैरते हैं और दूसरों को भी तैराते हैं। इसलिए उनका महत्व शब्दातीत है। आचार्य नौका के समान हैं जो स्वयं नदी के उस पार जाती है और अपने साथ अन्यों को भी पार लगाती है।

भगवान महावीर की वाणी गणधर आचार्य की अनुपस्थिति होने से छियासठ दिन तक नहीं खिरी। आचार्य ही उस वाणी को विस्तार से समझाते हैं। वे अपने शिष्यों को आलम्बन देते हैं, बुद्धि का बल प्रदान करते हैं, साहस देते हैं। जो उनके पास दीक्षा लेने जाये, उसे दीक्षा देते हैं और अपने से भी बड़ा बनाने का प्रयास करते हैं। वे शिष्य से यह नहीं कहते "तू मुझ जैसा बन जा" वे तो कहते हैं "तू भगवान बन जाये।"

मोक्षमार्ग में आचार्य से ऊँचा साधु का पद है। आचार्य अपने पद पर रहकर मात्र उपदेश और आदेश देते हैं, किन्तु साधना पूरी करने के लिये साधु पद को अंगीकार करते हैं। मोक्षमार्ग का भार साधु ही वहन करता है। इसीलिये चार मंगल पदों में, चार उत्तम पदों में और चार शरण पदों में

आचार्य पद को पृथक् ग्रहण न करके साधु पद के अंतर्गत ही रखा गया है। आचार्य तो साधु की ही एक उपाधि है जिसका विमोचन मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व होना अनिवार्य है। जहाँ राग का थोड़ा भी अंश शेष है, वहाँ अनन्त पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिये साधना में लीन साधु की वंदना और तीन प्रदक्षिणा आचार्य द्वारा की जाती है।

मैंने अभी दो दिन पूर्व थोड़ा विचार किया इस बात पर कि भगवान महावीर अपने साधना काल में दीक्षा के उपरान्त बारह वर्ष तक निरन्तर मौन रहे। कितना दृढ़ संकल्प था उनका। बोलने में सक्षम होते हुये भी, वचनगुप्ति का पालन किया। वचन-व्यापार रोकना बहुत बड़ी साधना है। लोगों को यदि कोई बात करने वाला न मिले तो वे दीवाल से ही बातें करने लगते हैं। एक साधु थे। नगर से बाहर निकले इसलिये कि कोई उनसे बातें न करे किन्तु फिर भी, एक व्यक्ति उनके साथ हो गया और बोला-महाराज, मुझे अपने जैसा बना लें। मैं आपकी सेवा करता रहूँगा। आपको कोई न कोई सेवक तो चाहिए अवश्य सेवा करने के लिये।" साधु बड़े पशोपेश में पड़ गये। आखिर बोले, "सबसे बड़ी मेरी सेवा आप ये ही करो कि बोलो नहीं। बोलना बन्द कर दो।" बोलने वालों की कमी नहीं है, प्रायः सर्वत्र मिल जाते हैं। मुझे स्वयं भी एक ऐसी घटना का सामना करना पड़ा। मदनगंज, किशनगढ़ में। ब्रह्मचर्य अवस्था में एक स्थान पर बैठकर मैं सूत्रजी का पाठ रहा था। एक बूढ़ी माँ आई और मुझसे कुछ पूछने वहीं बैठ गयी। मैं मौन ही रहा परन्तु धीरे-धीरे वहाँ और भी कई मातायें आकर बैठने लगीं और दूसरे दिन से मुझे वह स्थान छोड़ना पड़ा। विविक्त शय्यासन अर्थात् एकांतवास भी एक तप है जिसे साधु तपता है। इसलिए कि एकान्त में ही अन्दर की आवाज सुनाई पड़ती है। बोलने से साधना में व्यवधान आता है।

आचार्य कभी भी स्वयं को आचार्य नहीं कहते। वे तो दूसरों को बड़ा बनाने में लगे रहते हैं। अपने को बड़ा कहते नहीं। कोई और उन्हें कहे तो वे उसका विरोध भी नहीं करते और विरोध करना भी नहीं चाहिए। गाँधीजी के सामने एक बार यह प्रश्न आया। एक व्यक्ति उनके पास आया और बोला, "महाराज, आप बड़े चतुर हैं, अपने आप को महात्मा कहने लग गये। गाँधीजी बोले, "भैया, मैं अपने को महात्मा कब कहता हूँ। लोग भले ही कहें। मुझे क्या? मैं किसी का विरोध क्यों करूँ?" यही उनकी महानता है।

□□

शिक्षा; गुरु स्तुति

□ **जैसे माँ अपने बच्चे को बड़े प्रेम से दूध पिलाती है वैसी ही मनोदशा होती है बहुश्रुतवान् महाराज की। अपने पास आने वालों को वे बताते हैं संसार की प्रक्रिया से दूर रहने का ढंग और उनका प्रभाव भी पड़ता है क्योंकि वे स्वयं उस प्रक्रिया की साक्षात् प्रतिमूर्ति होते हैं।**

बहुश्रुत का तात्पर्य उपाध्याय परमेष्ठी से है। उपाध्याय ये तीन शब्दों से मिलकर बना है उप + अधि + आय। 'उप' माने पास/निकट; 'अधि' माने बहुत समीप अर्थात् सन्निकट और 'आय' माने आना अर्थात् जिनके जीवन का संबंध अपने शुद्ध गुण पर्याय से है जो अपने शुद्ध गुण पर्याय के साथ अपना जीवन चला रहे हैं, वे उपाध्याय परमेष्ठी हैं। उनकी पूजा, उपासना या अर्चना करना, यह कहलाती है बहुश्रुत-भक्ति।

आचार्य और उपाध्याय में एक मौलिक अन्तर है। आचार्य महाराज उपाध्याय परमेष्ठी पर भी शासन करते हैं। उनका कार्य होता है आदेश देना। 'पर' का हित उनका कर्त्तव्य है। अत: वे कटु शब्दों का भी प्रयोग करते हैं, प्रिय कटु और मिश्रित इन तीनों प्रकार के वचनों का प्रयोग आचार्य परमेष्ठी करते हैं किन्तु उपाध्याय परमेष्ठी उनसे बिल्कुल भिन्न हैं। उपाध्याय महाराज तो बड़े मीठे शब्दों में वचनामृत पान कराते हैं अपने शिष्यों को। जैसे मां अपने बच्चे को बड़े प्रेम से दूध पिलाती है वैसी ही मनोदशा होती है उपाध्याय महाराज की। अपने पास आने वालों को वे बताते हैं संसार की प्रक्रिया से दूर रहने का ढंग और उनका प्रभाव भी पड़ता है क्योंकि वे स्वयं ही उस प्रक्रिया की साक्षात् प्रतिमूर्ति होते हैं। उपाध्याय महाराज आत्मा की बात करते हैं। उनके पास न पंचेन्द्रिय विषयों की चर्चा है, न कषायों की, न आरंभ की और न परिग्रह की। विषय और कषायों में अनुरंजन, आरंभ व परिग्रह में आसक्ति तथा संचय की प्रवृत्ति का नाम ही संसार है। जहाँ विषय, कषाय, आरंभ व परिग्रह का सर्वथा अभाव है वहाँ मुक्ति है। उपाध्याय परमेष्ठी इसी मुक्ति की चर्चा करते हैं और उस उपदेश के अनुरूप आचरण भी करते हैं। इसी कारण उनका प्रभाव लोगों पर पड़ता है। प्रभाव केवल आचरण का ही पड़ सकता है, वचनों का नहीं। वचनों में शक्ति अद्‌भुत है। वचन को योग माना है किन्तु उन वचनों के अनुरूप कार्य भी होना चाहिये।

एक बच्चा गुड़ खाता था। माँ बड़ी परेशान थी। एक साधु के पास पहुंची। 'महाराज, इसका गुड़ खाना छुड़वा दीजिये, बहुत खाता है।' साधु ने कहा "आठ दिन बाद आना इस बच्चे को लेकर।" साधु ने इस बीच पहले स्वयं त्याग किया गुड़ खाने का और आठ दिनों में पूरी तरह उन्होंने गुड़ का परित्याग कर दिया। नौवें दिन जब वह माँ आयी उस बच्चे को लेकर, तो साधु ने उस बच्चे से कहा "बच्चे गुड़ नहीं खाना।" बच्चे ने तुरन्त उस साधु की बात मान ली। बोला "महाराज आपकी बात मान सकता हूँ, माँ की नहीं; क्योंकि डाक्टर ने माँ को भी मना किया है गुड़ खाने को किन्तु छिपकर खा लेती है।" इधर माँ ने साधु को टोक दिया "बाबाजी इतनी सी बात उसी दिन क्यों नहीं कह देते। मुझे आठ दिन प्रतीक्षा क्यों करवाई?" साधु का विनम्र उत्तर था "माँ जी, जब तक गुड़ में मेरी लिप्सा थी तब तक मेरे उपदेश का क्या प्रभाव हो सकता था?"

उपाध्याय परमेष्ठी एक अनूठे साधक है। उनके उपदेश सुनने वाला निकल जाता है उनके उपदेश को सुनकर। जो अनादि काल से जन्म, जरा और मरण के रोग से पीड़ित हैं वह रोगी दौड़ा चला आता है उपाध्याय परमेष्ठी के पास और उसे औषधि मिल जाती है अपने इस रोग की। रोगी को रोग मुक्त वही डाक्टर कर सकता है जो स्वयं उस रोग से पीड़ित न हो। एक डाक्टर के पास एक रोगी पहुँचा। उसे आंखों का इलाज कराना था। उसे एक पदार्थ 'दो' दिखाई पड़ते थे। किन्तु परीक्षण के समय ज्ञात हुआ कि स्वयं डाक्टर की आँख में ऐसा रोग था जिसे एक ही पदार्थ 'चार' पदार्थों सा दिखाई पड़ता था। अब आप ही बतायें वह डाक्टर क्या इलाज करेगा। ऐसे स्थान से तो निराशा ही हाथ लगेगी।

संसार मार्ग का समर्थक कभी भी मुक्ति मार्ग का सच्चा उपदेश दे नहीं सकता क्योंकि उसे उसमें रुचि ही नहीं है। उपाध्याय परमेष्ठी ही मुक्ति मार्ग का उपदेश दे सकते हैं क्योंकि वे स्वयं ही उस मार्ग के अडिग और अथक पथिक है।

एक जैन सज्जन मेरे पास आये, उनका प्रश्न था- "महाराज, आचार्य समन्तभद्र के एक श्लोक से हिंसा का उपदेश ध्वनित होता है। उन्होंने कौवे के मांस के त्याग का उपदेश दिया है, अन्य मांस का नहीं।" मैं दंग रह गया। मैंने उन्हें समझाया- "भइया। ये हिंसा का उपदेश नहीं है। यहाँ तो उस आदमी को महत्व दिया गया है जिसने कुछ त्यागा है। यहाँ तो छोड़ने का

उपदेश दिया गया है, ग्रहण का नहीं। भोगों का समर्थन नहीं किया गया है, त्याग का समर्थन किया है। पात्र देखकर ही उपाध्याय परमेष्ठी उपदेश दिया करते हैं। यदि पात्र-भेद किए बिना उपदेश दिया जाये तो वह सार्थक नहीं हो सकता। जो रात दिन खाता है उसे रात्रि में पहले अन्न का भोजन छुड़वाया जाता है वही उपयुक्त है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसे रात्रि में अन्य पदार्थों के ग्रहण का उपदेश दिया गया हो''।

राजस्थान में एक प्रथा प्रचलित है जिसे कहते हैं 'गढ़का तेरस'। अनन्त चतुर्दशी के पूर्व तेरस को खूब डटकर गरिष्ठ भोजन कर लेते हैं और ऊपर से कलाकन्द भी खा लेते हैं फिर चौदस के दूसरे दिन उपवास के बाद पारणा बढ़े जोर-शोर से करते हैं। ऐसे व्रत पालने से कोई लाभ होने वाला नहीं है। हमारी इच्छाओं का मिटना ही व्रतों में कार्यकारी है।

स्तुति स्तोतुः साधोः कुशल-परिणामाय स तदा।
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः॥

उपाध्याय परमेष्ठी उपस्थित हों अथवा न हों, उनके लिखे हुए शब्दों का भी प्रभाव पड़ता है। द्रोणाचार्य की प्रतिमा मात्र ने एकलव्य को धनुर्विद्या में निष्णात् बना दिया। ऐसे होते हैं उपाध्याय परमेष्ठी। उनको हमारा शत्शत् नमोस्तु!

□□

भगवद्-भारती-भक्ति

11. अज्ञात का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करके जो विशिष्ट शब्द बोले जाते हैं जिनका सम्बन्ध हमारी आन्तरिक निधि से होता है वे शब्द प्रवचन कहलाते हैं।

वचन और प्रवचन में बड़ा अन्तर है। जो साधारण शब्द हम बोलते हैं वे वचन हैं। प्रवचन वे विशेष शब्द हैं जिनका सम्बन्ध साँसारिक पदार्थों से न होकर उस अनमोल निधि से है जो हमारे अन्दर है। अज्ञात का अनुभव एवं ज्ञान प्राप्त करके जो विशेष शब्द खिरते हैं, बोले जाते हैं, वे शब्द प्रवचन कहलाते हैं। आत्मानुभूति के लिये किये गये विशेष प्रयास को प्रवचन कहते हैं। महावीर भगवान ने अज्ञात और अदृष्ट का अनुभव प्राप्त किया। अतः जो भी वचन खिर गये वे सरस्वती बन गये। श्रुत की आराधना एक महान कार्य है।

श्रुत के दो भेद हैं- द्रव्य-श्रुत और भाव-श्रुत। शाब्दिक वचन द्रव्य-श्रुत हैं और अन्दर की पुकार भाव-श्रुत है। विद्वान् लोग इसी श्रुत का सहारा लेते हैं धन का सहारा नहीं लेते। वस्तुतः, विद्वान वे ही हैं जो अनादिकालीन दुःखों के विमोचन के लिये सरस्वती की आराधना करते हैं। लक्ष्मी की आराधना नहीं करते। आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं-

न शीतलाश्चन्दन चन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः।
यथा मुनेस्तेऽनघ-वाक्य-रश्मयः श्माम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम्॥

हे शीतल प्रभु! विद्वान लोग शीतलता की प्राप्ति के लिये न चन्दन का सहारा लेते हैं न चन्द्र किरणों का, न गंगा के जल का और न हार का। वे आपके वचनों का सहारा लेते हैं क्योंकि उन्हीं से वास्तविक शीतलता मिलती है।

द्रव्य-श्रुत एक चाबी की तरह हैं जिससे मोह-रूपी ताले को खोला जा सकता है किन्तु चाबी मिलने पर ताला खुल ही जाये ये बात जरुरी नहीं। यह चाबी का प्रयोग यदि हम किसी दूसरे ताले में करेंगे तो ताला कभी नहीं खुलेगा। आज तक हमने यही किया है। द्रव्यश्रुत के महत्व को नहीं समझा। द्रव्यश्रुत का महत्व तो तभी है जब आप इसके सहारे से अपनी अलौकिक

आत्म-निधि को प्राप्त कर लें। शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार आत्मा का अनुभव कर लें। दूध में घी है किन्तु हाथ डालने मात्र से मिलने का नहीं। घी प्राप्ति के लिये मंथन करना पड़ेगा दूध का। आज तक हमने इस द्रव्यश्रुत का उपयोग आत्मा की प्राप्ति के लिये किया ही नहीं। इसीलिये विद्वान भी लक्ष्मीवान की तरह आज तक दु:खी है।

सरस्वती को दीपक की उपमा दी गई है जो हमारे मार्ग को प्रशस्त करता है किन्तु जिसके हाथ में दीपक है यदि वह भी इधर-उधर देखता हुआ असावधानी से चले तो सर्प पर भी पैर पड़ सकता है, वह भटक भी सकता है। कषायों के शमन से ही सुख की प्राप्ति होती है और कषायों के शमन से ही भावश्रुत प्रादुर्भाव होता है। वैसे द्रव्यश्रुत और भावश्रुत दोनों ही लाभदायक हैं किन्तु भावश्रुत तो अनिवार्य रूप से लाभदायक है।

अविनाशी जीव-द्रव्य के ज्ञान के लिए शाब्दिक ज्ञान अनिवार्य नहीं है। एक साधु के पास एक शिष्य आया। बोला- 'महाराज, मुझे दीक्षित कर लो, आपके सहारे से मेरा भी कल्याण हो जायेगा।' शिष्य बिल्कुल निरक्षर और कम बुद्धि वाला था। साधु महाराज ने कई मन्त्र सिखाये किन्तु उसे कोई मन्त्र याद ही नहीं होते थे। गुरु महाराज बड़े चिन्तित 'कि कैसे कल्याण हो इसका क्या करें? इसे कुछ याद नहीं होता' आखिर उसे छह अक्षरों का एक मन्त्र महाराज ने सिखाया 'मा रुष, मा तुष' अर्थात् रोष द्वेष मत करो, तोष राग मत करो। शिष्य उसे भी भूल गया और केवल उसे याद रहा "तुषमास भिन्न" अर्थात् छिलका अलग और दाल अलग। अचानक एक दिन उसने एक बुढ़िया माँ को अलग करते हुये देखा। बस, इसी से उसका कल्याण हो गया। ये शिष्य शिवभूति महाराज थे। जो आत्मा अलग और शरीर अलग ऐसे भेद-विज्ञान को प्राप्त होकर अन्तर्मुहूर्त के लिए 'स्व' में लीन हो गये और उन्हे केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो गयी। वे मुक्त हो गये।

हमें भी भेद-विज्ञान की कला में पारंगत होना चाहिये। भावश्रुत की उपलब्धि के लिये हमारा अथक प्रयास चलना चाहिये। अरे भइया! शरीर के साथ जीवन का जीना भी कोई जीवन है? शरीर तो जड़ है और आत्मा उजला हुआ चेतन है। जिस क्षण यह भेद-विज्ञान हो जायेगा, उस समय न भोगों की लालसा रहेगी, न ही अन्य इच्छायें रहेंगी। मोह विलीन हुआ कि समझो दु:ख विलीन हुआ। सूर्य के उदित होने पर क्या कभी अन्धकार शेष रह सकता है? किन्तु आज तो इस भेद विज्ञान का भी अर्थ गलत ही लगाया

जा रहा है। शरीर अलग और आत्मा अलग है। इसलिये शरीर को खूब खिलाओ-पिलाओ, आत्मा का उससे कुछ बिगाड़ होना नहीं है। यह तो अर्थ का अनर्थ है भइया! हमारी दशा तो उस बुढ़िया की तरह हो गयी है जिसकी सुई घर में कहीं खो गयी थी। अंधेरे में वह उसे ढूँढ़ नहीं पा रही थी, तब किसी ने उजाले में ढूँढने का परामर्श दिया और बुढ़िया बाहर जहां थोड़ा प्रकाश था वहां ढूंढने लगी, पर वहाँ कैसे मिल सकती थी। हमारी भी अनमोल निधि हमारे पास है किन्तु हम उसे बाह्य पदार्थों में ढूँढ़ रहे हैं। अर्थ का अनर्थ लगा रहे हैं। यह कैसी बिडम्बना है।

द्रव्यश्रुत आवश्यक है भावश्रुत के लिये। द्रव्यश्रुत ढाल की तरह है और भावश्रुत तलवार की तरह है किन्तु ढाल और तलवार को लेकर रणाङ्गण में उतरने वाला होश में भी होना चाहिये। द्रव्यश्रुत द्वारा वह अपनी रक्षा करता रहे और भाव-श्रुत में लीन रहने का प्रयास करें। यही कल्याण का मार्ग है।

एक सज्जन ने मुझसे प्रश्न किया "महाराज इस पंचम काल में तो मुक्ति होती नहीं। आपकी क्या राय है? मैने कहा कथंचित् सही है यह बात। 'महाराज, जो बात सही है, उसमें भी आप कथंचित् लगा रहे हैं'। - वे सज्जन बोले! हाँ भाई! कथंचित् लगा रहे हैं इसलिये कि आज द्रव्य-मुक्ति भले न हो, पर भाव-मुक्ति तो तुरन्त हो सकती है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन, धन आदि इनका विमोचन करो, छुटकारा पा जाओ उन पदार्थों से जिनको आप पकड़े बैठे हैं अपने परिणामों में भावों में, बस! तुरन्त कल्याण है यही तो है भाव मुक्ति। यही तो है प्रवचन भक्ति!

□□

विमल-आवश्यक

□ **मनुष्य-जीवन आवश्यक कार्य करने के लिए मिला है अनावश्यक कार्यों में खोने के लिये नहीं। जो पाँच इन्द्रियों और मन के वश में नहीं है वह 'अवश' है और 'अवशी' के द्वारा किया गया कार्य 'आवश्यक' कहलाता है।**

'आवश्यकापरिहाणि'- दो शब्दों से मिलकर बना है-'आवश्यक' और 'अपरिहाणि' अर्थात् आवश्यक कार्यों को निर्दोष रूप से सम्पन्न करना। आवश्यक कार्यों को समयोचित करने के लिये बुद्धिमत्ता आवश्यक है। एक अपढ़ बहू एक घर में आ गई। पड़ोस में किसी के यहाँ मौत हो गयी थी। सास ने उसे वहाँ भेजा सांत्वना देने के लिए। बहू गई और सांत्वना शाब्दिक देकर आ गई। रोई नहीं। सास ने कहा/समझाया कि वहाँ रोना आवश्यक था बहू। अचानक दूसरे ही दिन पड़ोस के एक अन्य घर में पुत्र का जन्म हुआ। सास ने बहू को भेजा और वहाँ पहुँचते ही बहू ने रोना शुरू कर दिया। घर लौटी तो सास के पूछने पर उसने सब कुछ कह दिया। सास ने बहू को फिर समझाया "क्या करती हो बहू, वहाँ तो मुझे प्रसन्न होकर गीत गाना चाहिये था, अब आगे ध्यान रखना।" फिर एक दिन की बात है वह बहु ऐसे घर में गयी जहाँ आग लग गयी थी। वहाँ जाकर उसने गीत गाये और प्रसन्नता व्यक्त की। आप जान रहे हैं उस अनपढ़ बहू के ये काम समयोचित नहीं थे। इसीलिये आप सब हँस रहे हैं उसकी बात सुनकर। किन्तु यदि आप अपने ऊपर ध्यान दो तो पाओगे कि आप सबका जीवन भी कितना अव्यवस्थित हो रहा है। महर्षि जन आपके क्रिया-कलापों को देखकर हँसते हैं क्योंकि आप के सभी कार्य अस्त व्यस्त हैं। आपको नहीं मालूम-कब, कहाँ कौन-सा कार्य करना है।

भगवान वृषभनाथ को अन्तिम कुलकर माना गया है। उनके समय से ही भरत क्षेत्र में भोगभूमि का अन्त हुआ और कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने सारे समाज को तीन भागों में विभक्त कर छः कार्यों में लगाया। यह आपको समझना है कि भोगभूमि नहीं है यहाँ। कर्मभूमि है। पुरुषार्थ आपको अनिवार्य रूप से करना है। भोग आपको मिलने वाले नहीं है। हमें ये सारी

बात रटी हुई हैं। समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदि सभी खोल-खोल कर हमने रट डाले हैं। किन्तु उनमें कही गयी शिक्षाओं के अनुरूप हमारे कार्य नहीं बन पाये। वृषभनाथ भगवान ने युग के आरम्भ में लोगों को अन्न पैदा करना, अन्न खाना सिखाया और बाद में मोक्षमार्ग की साधना की भी प्ररूपणा की है। आप केवल खाना खाने तक सीमित रह गये। परलौकिक शिक्षा को हृदयंगम किया ही नहीं।

आप विवेक और बुद्धि के अभाव में आवश्यक कार्यों को तो करते नहीं, वासना के दास बने हुये हैं। 'आवश्यक' शब्द की निष्पत्ति की चर्चा करते हुये आचार्य कुंदकुंद ने लिखा है, जिसने इन्द्रियों के दासपने को अंगीकार कर लिया, वह वशी है। जो मन और पाँच इन्द्रियों के वश में नहीं है वह अवशी है। अवशी केवल आवश्यक कार्य ही करेगा, अनावश्यक कार्य नहीं करेगा। आवश्यक कार्य कौनसा? करने योग्य कार्य ही आवश्यक कार्य है और मनुष्य जीवन आवश्यक कार्य करने के लिये मिला है। अनावश्यक कार्यों में खोने के लिये नहीं मिला। योग-साधन के लिये जीवन मिला है भोग साधन के लिए नहीं। ध्यान रखें, त्रस पर्याय सीमित है और इसी में आवश्यक कार्य किये जा सकते हैं। कुल दो हजार सागर का समय मिला है, इसके उपरान्त पुनः निगोद में लौट कर जाना ही पड़ेगा। इन दो हजार सागर में मनुष्य के केवल अड़तालीस भव मिलते हैं। मनुष्य के इन अड़तालीस भवों में भी सोलह बार स्त्री पर्याय के, चौबीस नपुंसक के भव और शेष आठ पुरूष पर्याय के हैं। इस प्रकार अगर देखा जाये तो पूरा विकास करने के लिये आठ ही भव मिले हैं। यदि ये भव यूं ही चले गये तो पछताना पड़ेगा। "अब पछिताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत" डूबने के उपरान्त किसी को बचाया नहीं जा सकता।

मणि को समुद्र में फेंक देने के उपरान्त उसे पाया नहीं जा सकता। गाड़ी छूटने के समय आप यात्री से कहें- 'केन्टीन में चलो, थोड़ा विश्राम कर लो।' तब क्या वह आपकी बात मानेगा? कभी नहीं मानेगा। वह जानता है कि गाड़ी छूटने का मतलब परेशानी कई घण्टों की। ऐसा ही ये मनुष्य जीवन है।

अकबर और बीरबल का एक उदाहरण मुझे याद आता है। एक व्यक्ति आया और उसने प्रश्न किया राज दरबार में- सत्ताइस में से दस निकाल दिए जाँए तो कितने बचेंगे? किन्तु बीरबल का उत्तर बड़ा अजीब था। उसने कहा सत्ताइस में से दस निकल जाने पर कुछ नहीं बचेगा। सभी भौचक्के रह गये।

यह क्या उत्तर है? कौन-सी स्कूल में पढ़ा है यह? इतना भी ज्ञान नहीं। तब बीरबल ने समझाया- "सत्ताइस नक्षत्र होते हैं उनमें से दस नक्षत्र ऐसे हैं जिनमें वर्षा होती है यदि वे नक्षत्र निकाल दिये जायें तो वर्षा के अभाव में फसल नहीं होगी। अन्न का एक दाना भी घर में नहीं आ पायेगा। अकाल की स्थिति हो जायेगी और सभी भूखों मर जाएँगे। कुछ भी शेष नहीं रहेगा।" इसी प्रकार त्रस पर्याय से मनुष्य-भव निकाल दो फिर कल्याण का अवसर कहीं नहीं मिलेगा।

भोग-भूमि में भोग भोगने होंगे। उसके बिना निस्तार नहीं है। उत्तम भोगभूमि में तीन पल्य तक रहना होगा, मध्यम भोगभूमि में दो पल्य और जघन्य भोग-भूमि में एक पल्य की उम्र बिताना होगी। उत्तम भोगभूमि में तीन दिन के उपरान्त चौथे दिन एक भुक्ति अनिवार्य है। मध्यम और जघन्य भोगभूमि में क्रमशः दो दिन और एक दिन के उपरान्त एक भुक्ति करनी ही होगी। इसे कोई टाल नहीं सकता। भोग भोगने ही पड़ेंगे किन्तु कर्मभूमि में भोगों के पीछे दौड़ना ही व्यर्थ है। यहाँ तो पुरुषार्थ द्वारा, संयम द्वारा अपनी स्वतन्त्र सत्ता को पाया जा सकता है। यहाँ खाना खाओ तो जागृति के लिये, योग-साधना के लिए, सोने के लिए नहीं। यह शरीर योग साधना के लिए माध्यम है। इसके माध्यम से ही अलौकिक आनन्द में प्रवेश किया जा सकता है। सभी तीर्थंकरों ने यही किया। उन्होंने मात्र सिखाया ही नहीं, करके भी दिखाया। हमें अवसर को पहचानना चाहिए वरना पछताना पड़ेगा, वैसे कई बार पछताये भी हैं परन्तु स्मरण नहीं। श्वान की टेढ़ी पूंछ के समान जो कि कभी सीधी नहीं हो पायी, हमारी भी मनोदशा है। उठो, जागृत हो, अनादि के कुसंस्कारों को तिरस्कृत करके निगोद की यात्रा से बचो, जहाँ-

'एक श्वास में अठ दस बार, जन्मयो मर्‌यो भर्‌यो दुःख भार'

समय के साथ चलकर यह आवश्यक कार्य निर्दोष पूर्वक करना चाहिये।

□□

धर्म-प्रभावना

□ **वह मार्ग जिसके द्वारा आदमी शुद्ध बुद्ध बनें उस सत्य-मार्ग अर्थात् मोक्ष-मार्ग की प्रभावना ही "मार्ग-प्रभावना" या "धर्म प्रभावना" है।**

"मृग्यते येन यत्र वा सः मार्गः" अर्थात् जिसके द्वारा खोज की जाये उसे मार्ग कहते हैं। जिस मार्ग द्वारा अनादि से भूली वस्तु का परिज्ञान हो जाये, जिस मार्ग से उस आत्म तत्व की प्राप्ति हो जाये, उस मार्ग की यहाँ चर्चा है। धन और नाम प्राप्त करने का जो मार्ग है उस मार्ग का यहाँ जिक्र नहीं है। मोक्ष मार्ग, सत्य मार्ग, अहिंसा मार्ग यानी वह मार्ग जिसके द्वारा यह आत्मा शुद्ध बने, उस मार्ग की प्रभावना ही "मार्ग-प्रभावना" कहलाती है।

रविषेणाचार्य के पद्मपुराण को पढ़ते समय हमें रावण द्वारा निर्मित शान्तिनाथ मन्दिर के प्रसंग को देखने का अवसर मिला। दीवारें सोने की, दरवाजे वज्र के, फर्श सोने-चाँदी के, छत नीलम मणि की। ओह! इतना सुन्दर मन्दिर बनवाया रावण ने और स्वयं उसमें ध्यान मग्न होकर बैठ गया। सोलह दिन तक विद्या की सिद्धि के लिये बैठा रहा ध्यानमग्न। ऐसा ध्यान जिसमें मन्दोदरी की चीख पुकार को भी नहीं सुना रावण ने। किन्तु यह ध्यान, धर्म ध्यान नहीं था। बगुले के समान ध्यान था, केवल अपना स्वार्थ साधने के लिये। आप समझते होंगे रावण ने धर्म की प्रभावना की। नहीं, उसने मिथ्यात्व का पोषण करके धर्म की अप्रभावना की।

स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है-

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
निजशासनमाहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना॥

व्याप्त अज्ञान अन्धकार को यथाशक्ति दूर करना और जिन शासन की गारिमा को प्रकाशित करना ही वास्तविक प्रभावना है। जो स्वयं अज्ञान में डूबा हो उससे प्रभावना क्या होगी? रावण अन्याय के मार्ग पर चला। नीति विशारद होकर भी वह अनीति को अपनाने वाला बना। उसके ललाट पर एक कलंक का टीका लगा हुआ है। ऐसा कोई भी व्यक्ति क्यों न हो, उसके द्वारा प्रभावना नहीं हो सकती। प्रभावना देखनी हो तो देखो उस जटायु पक्षी की। जिस संकल्प को उसने ग्रहण किया, उसका पालन शल्य रहित होकर जीवन के अंतिम क्षणों तक किया। सीताजी की 'त्राहि माम्! त्राहि माम्'-

आवाज सुनकर वह चल पड़ा उस अबला की सहायता के लिये। वह जानता था कि उसकी रावण से लड़ाई हाथी और मक्खी की लड़ाई के समान है। रावण का एक घातक प्रहार ही उसकी जीवन लीला समाप्त कर देने के लिये पर्याप्त है किन्तु अनीति के प्रति वह लड़ने पहुँच गया और अपने व्रत का निर्दोष पालन करते हुये प्राण त्याग दिये। यही सच्ची प्रभावना है। रावण को उससे शिक्षा लेनी चाहिये थी और हमें भी सीख मिलनी चाहिये।

आज कितना अन्तर है हममें और उस जटायु पक्षी में। हम एक-एक पैसे के लिये अपना जीवन और ईमान बेचने को तैयार हैं। अपने द्वारा लिये गये व्रतों के प्रति कहाँ हैं हमें समर्पण, आस्था और रुचि, जैसी जटायु पक्षी में थी। हम व्रत लेते है तो छूट जाते हैं या छोड़ देते हैं। कई लोग कहते हैं-"महाराज! रात्रि भोजन का हमारा त्याग। किन्तु इतनी छूट रख दो जिस रात्रि में भोजन का प्रसंग आ जाये उस दिन भोजन रात में कर लें।" यह कोई व्रत है। यह तो छलावा है। ऐसे लोगों से तो हम यही कह देते हैं कि प्रसंग आने पर दिन का व्रत ले लो और बाकी समयों की चिन्ता मत करो। निर्दोष व्रत का पालन ही मार्ग-प्रभावना में कारण है।

जटायु पक्षी किसी मन्दिर में नहीं गया किन्तु उसका मंदिर उसके हृदय में था। जिसमें श्री जी के रूप में उसके स्वयं की आत्मा थी। हमें भी उसी आत्मा की विषय-कषायों से रक्षा करनी चाहिये। इसे ही मार्ग-प्रभावना कहा जायेगा।

हमने कई बार आचार्य ज्ञान सागरजी महाराज से पूछा था- महाराज, मुझ से धर्म की प्रभावना कैसे बन सकेगी? तब उनका उत्तर था-"आर्षमार्ग में दोष लगा देना अप्रभावना कहलाती है तुम ऐसे अप्रभावना से बचते रहना बस! प्रभावना हो जायेगी।" मुनि मार्ग सफेद चादर के समान है उसमें जरा-सा दाग लगना अप्रभावना का कारण है। उनकी यह सीख बड़ी पैनी है। इसलिये प्रयास मेरा वही रहा कि दुनिया कुछ भी कहे या न कहे, मुझे अपने ग्रहण किये हुये व्रतों का परिपालन निर्दोष रूप से करना है।

भगवान महावीर के उपदेशों के अनुरूप अपना जीवन बनाओ। यही सबसे बड़ी प्रभावना है। मात्र नारेबाजी से प्रभावना होना संभव नहीं है। रावण को राक्षस कहा है, वह वास्तव में राक्षस नहीं था किन्तु आर्य होकर भी उसने अनार्य जैसे कार्य किये। अन्त तक मिथ्यामार्ग का सहारा लिया। कुमार्ग को ही सच्चा मार्ग मानता रहा। 'मेरा है सो खरा है' और 'खरा है सो मेरा है'- इस वाक्य में मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी का पूर्ण विवेचन निहित है। वाक्य के प्रथम अंश के अनुरूप जिनका जीवन है वे कुमार्गी है और वाक्य के

दूसरे हिस्से के अनुयायी सन्मार्गी हैं। हमारे अन्दर यह विवेक हमेशा जागृत रहना चाहिये कि मेरे द्वारा ऐसे कोई कार्य तो नहीं हो रहे जिनसे दूसरों को आघात पहुँचे। यही प्रभावना का प्रतीक है।

कल हमें 'तीर्थंकर' पत्र में एक समाचार देखने को मिला। लिखा था "धर्मचक्र चल रहे हैं बड़ी प्रभावना हो रही है।" सोचो, क्या इतने से ही प्रभावना हो जायेगी। मात्र प्रतीक पर हमारी दृष्टि है। सजीव धर्मचक्र कोई नहीं चल रहा उसके साथ। सजीव धर्मचक्र की गरिमा की और हमारा ध्यान कभी गया ही नहीं। सजीव धर्मचक्र है वह आत्मा जो विषय और कषायों से ऊपर उठ गयी है। मात्र जड़ धन-पैसे से धर्म प्रभावना होने वाली नहीं। जनेऊ, तिलक और मात्र चोटी धारण करने से प्रभावना होने वाली नहीं है। प्रभावना तो वस्तुतः अंतरंग की बात है। परमार्थ की प्रभावना ही प्रभावना है। परमार्थ के लिये कोई धन का विमोचन करे, वह भी प्रभावना है।

आचार्य कुन्दकुन्द का नाम बड़ा विख्यात है। हम सभी कहते हैं "मंगल कुन्दकुन्दार्यो अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य मंगलमय हैं। किन्तु हम उनकी भी बात नहीं मानते। शास्त्रों की वे ही बातें हम स्वीकार कर लेते हैं जिनसे हमारा लौकिक स्वार्थ सिद्ध हो जाता है। परमार्थ की बात हमारे गले उतरती ही नहीं है। उनके ग्रन्थ-'समयसार प्राभृत में' एक गाया आयी है जिसका सार इस प्रकार है- "विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ होकर मन के वेग को रोकते हुये जो व्यक्ति चलता है, वह बिना कुछ कहे हुये जिनेन्द्र भगवान की प्रभावना कर रहा है।"

विषय कषायों पर कंट्रोल करो। वीतरागता की ही प्रभावना है, रागद्वेष की प्रभावना नहीं है। भगवान् ने कभी नहीं कहा कि मेरी प्रभावना करो। उनकी प्रभावना तो स्वयं हो गयी है। लोकमत के पीछे मत दौड़ो, नहीं तो भेड़ों की तरह जीवन का अन्त हो जायेगा। मालूम है उदाहरण भेड़ों का। एक के बाद एक सैकड़ों भेड़ें चली जा रही थीं, एक गडढ़े में एक गिरी तो पीछे चलने वाली दूसरी गिरी, तीसरी भी गिरी और इस तरह सबका जीवन गिरकर समाप्त हो गया। उनके साथ एक बकरी भी थी किन्तु वह नहीं गिरी। क्यों? वह भेड़ों की सजातीय नहीं थी। उसी तरह झूठ हजारों हैं जो एक न एक दिन गिरेंगे। किन्तु सत्य केवल एक है अकेला है। उस सत्य की प्रभावना के लिये कमर कसकर तैयार हो जाओ। सत्य की प्रभावना तभी होगी जब तुम स्वयं अपने जीवन को सत्यमय बनाओगे, चाहे तुम अकेले ही क्यों न पड़ जाओ, चुनाव सत्य का जनता अपने आप कर लेगी।

□□

वात्सल्य

□ दूध पानी को मिला सकता है विजातीय होने पर भी, पर हम तो सजातीय को भी नहीं मिला पाते। सोचो; समय रहते एक डोरी में बंध जाओ और फिर देखो, कैसा अलौकिक आनंद आता है।

प्रवचन वात्सल्य का अर्थ है-साधर्मियों के प्रति करुणाभाव। "वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेह: प्रवचनवत्सलत्वम्"- जैसे गाय बछड़े पर स्नेह करती है इसी प्रकार साधर्मियों पर स्नेह रखना प्रवचन वात्सल्य है। वात्सल्य एक स्वाभाविक भाव है। साधर्मी को देखकर उल्लास की बाढ़ आना ही चाहिए। प्रवचन वात्सल्य का उतना ही अधिक महत्व है जितना प्रथम दर्शनविशुद्धि भावना का। साधर्मी में वात्सल्य रखने वाला अवश्य ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध करेगा। आचार्यों ने कहा है कि साथ वाले के प्रति औचित्यपूर्ण व्यवहार ही होना चाहिए। किन्तु आज देखने में आता है कि सजातीय भाइयों में प्रेम ओझल-सा हो गया है। हम अपने से ऊँचे को और नीचे वाले को स्थान दे सकते हैं किन्तु समान लोगों को सहन नहीं कर सकते। रूस और अमेरिका में आज संघर्ष क्यों है? केवल इसलिये कि वे समान जाति के हैं। आज विश्व में विप्लव का प्रमुख कारण जातियों की पारस्परिक लड़ाई ही है। हम हाथी के साथ-साथ चल सकते हैं, साथी के साथ नहीं।

एक बार दुर्योधन को गन्धर्वों ने बन्दी बना लिया। धृतराष्ट्र ने निवेदन किया धर्मराज से। धर्मराज ने कह दिया भीम से। "भइया जाओ दुर्योधन को छुड़ा लाओ। दुर्योधन का नाम सुनकर भीमराज क्रोध से भर उठे बोले- "उस पापी की मुक्ति की बात करते हो, जिसके कारण हमें वनवास की यातनायें सहनी पड़ी। उस अन्यायी, नारकी को छुड़ाने की बात करते हो, जिसने भरी सभा में द्रोपदी को निर्वसन करने का दुस्साहस किया था। धर्मराज, अगर आप किसी और की मुक्ति की बात करते, तो अनुचित न होता किन्तु दुर्योधन को मुक्त कराने मैं नहीं जाऊँगा।" धर्मराज के हृदय का करुणा भाव आँखों से बहते देखकर, अर्जुन ने उनके वात्सल्य भाव को समझा और गाण्डीव धनुष द्वारा गन्धर्वों से युद्ध किया तथा दुर्योधन को छुड़ा लाये। यह है वात्सल्य की भावना। तब धर्मराज ने समझाया- "हम परस्पर सौ कौरव

और पाँच पाण्डव हैं, लड़-भिड़ सकते हैं किन्तु बाहर वालों के लिये हम सदा एक सौ पांच भाई ही हैं। हमारे भीतर एकता की ऐसी भावना होनी चाहिए।

भगवान महावीर की पूजा करने वालों में मतभेद हो जाये, विचारों में भिन्नता आ जाये किन्तु मन-भेद नहीं होना चाहिए। पानी की धारा जब प्रवाहित होती है तो निर्बाध ही चली जाती है किन्तु किसी घनीभूत पत्थर के मार्ग में आ जाने पर वह धारा दो भागों में विभक्त हो जायेगी। वात्सल्य-विहीन व्यक्ति भी पत्थर की तरह होते हैं। वे समाज को दो धाराओं में विभक्त कर देते हैं।

जाति-विरोध वास्तव में बहुत बुरी चीज है। हम महावीर भगवान को तो मानें, उनकी पूजा करें, भक्ति करें और अपने साधर्मी भाइयों से वैमनस्य रखें, तो समझो हमारी पूजा व्यर्थ है। समवशरण में भी हमारी यही दृष्टि रही, स्वर्गों में भी यही रही। साधर्मी के वैभव को हम देख नहीं पाते, ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। विधर्मी चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो हमें कोई चिन्ता नहीं होती। किन्तु सजातीय बन्धु की जरा सी उन्नति भी हमारी ईर्ष्या का कारण बन जाती है। उसे हम सहन नहीं कर पाते। यहीं से दु:खों की जड़ प्रारम्भ होती है। ये वैमनस्य ही कारण हैं हमारी व्यथाओं का।

भई, समझो तो सही। विचार भेद तो केवल ज्ञान की प्राप्त से पूर्व छद्मस्थ अवस्था में रहेगा ही किन्तु मन-भेद तो नहीं रखना चाहिये। केवल ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त विचारों की भिन्नता भी समाप्त हो जाती है। लय में लय का मिलना भी एक नय सिद्धान्त है। सभी जीवों को एकसूत्र में बाँधने के लिये जैनधर्म में संग्रह नय का उल्लेख किया है। सभी जीव शुद्ध नय की अपेक्षा से शुद्ध है। हमें भी ऐसे ही एक सूत्र में बँधना चाहिये, तभी श्रेयस्कर है।

ध्यान रखो, यदि हमारे अन्दर वैमनस्य की रेखा है तो वह उभरकर ऊपर भी करुणा की लहरें पैदा करेगी। जैसे किसी तालाब में एक पत्थर फेंका जाये तो तरंगे एक तट से दूसरे तट तक फैल जाती है, उसी प्रकार यह वैमनस्य भी फैलता ही जाता है। धर्मराज के वात्सल्य को देखकर, सुनकर भीम बड़े लज्जित होकर नतमस्तक हो गये थे। हमें भी इससे शिक्षा लेना चाहिये।

आज हम वात्सल्यहीन होते जा रहे हैं। जो हमारी उन्नति में बाधक बन रहा है। साधर्मियों से हमारी लड़ाई और विधर्मियों से प्रेम हमारे पतन का

कारण है। आज मनुष्य की चाल और श्वान की चाल एक जैसी हो गई है। एक लड़के ने एक कुत्ता पाल लिया। वह बालक उस कुत्ते से बड़ा प्यार करता क्योंकि कुत्ता चाल आप जानते ही हैं, बहुत स्वामिभक्त होता है। वह बालक एक दिन माँ से बोला- "माँ दुनियाँ में शेरसिंह, हाथीसिंह, अश्वसेन, आदि नाम प्रचलित हैं, किन्तु श्वानसेन किसी का नाम नहीं। ऐसा क्यों?" तब माँ बोली- "बेटा! तू अभी जानता नहीं। अगर अभी सामने से कोई दूसरा कुत्ता आ जाये तो देखना तुम्हारा ये कुत्ता तुम्हारी गोद से उतरकर उससे लड़ने पहुँच जायेगा, यह जाति-द्रोही है, यही इसका सबसे बड़ा अवगुण है। इसलिये कोई माता-पिता अपने बेटे का नाम श्वानसिंह नहीं रखते। इसी तरह हमारी रक्षा साधर्मी के द्वारा ही होगी। विधर्मी कभी हमारी रक्षा के लिये नहीं आयेगा।

एक बार 'आक' का दूध गाय और भैंस के दूध से बोला- "भइया मुझे भी अपने साथ मिला लो। मेरा भी विस्तार हो जायेगा।" "ना भइया, मैं तुम्हें थोड़ा सा अपने मैं मिला लूँ तो मेरा स्वभाव भी बदल जायेगा, मैं फट जाऊँगा और कोई मुझे भी नहीं पियेगा। तब कैसे मैं पालन कर पाऊँगा भूखे प्राणियों का"- गौ का दुग्ध बोला। तब आक का दूध कहता है- भइया, पानी को मिला लेते हो, जोकि विजातीय है।" पानी विजातीय होकर भी अलग स्वभाव का है, मिलनसार है पानी का तो यह हाल है- जैसा मिले संग, वैसा उसका रंग।" विजातीय होकर भी अपने इसी स्वभाव के कारण सभी के साथ मिल सकता है किन्तु हम सजातीय होकर भी ऐसे वात्सल्य का स्वभाव जागृत नहीं कर पाते। भाई, एक डोरी में बँध जाओ और फिर देखो कैसा अलौकिक आनन्द आयेगा।

भगवान महावीर ने इस वात्सल्य भाव को अपने जीवन में उतारा था। प्रकाश का स्वभाव भी देखो, बीसों बल्बों का प्रकाश भी एक साथ मिल जाता है। प्रकाश में कभी लड़ाई नहीं होती, हमारी छाया भले ही प्रकाश में भेद उत्पन्न कर दे। जैसे प्रकाश में प्रकाश मिल जाता है वैसे ही हमारी आँखों से निकली हुई चैतन्य धारा भी दूसरों की ओर से आने वाली चेतन धारा से मिल जानी चाहिए। जड़ के सम्पर्क में रहकर हम भी जड़ होते चले जा रहे हैं। जड़ का अर्थ अचेतन भी है और मूर्ख भी है। यह मूर्ख संज्ञा मनुष्यों की ही है। दुनियाँ के पदार्थ अपना स्वभाव नहीं छोड़ते किन्तु हम मनुष्य अपना स्वभाव भूल कर उसे छोड़ बैठे हैं। इसीलिए दुःखी भी हैं।

सन्त लोग एक-एक पंक्ति में सुख का मार्ग प्रदर्शित कर रहे हैं। उनकी एक एक बात सारभूत है। किन्तु हम उसे छोड़कर निस्सार की ओर दौड़ रहे हैं। हमने उनकी पुकार सुनी ही नहीं। गुरुओं के हृदय में तो करुणा की धारा प्रवाहित होती रहती है, उससे हमें लाभ लेना चाहिये और जाति-द्रोह, वैमनस्य, श्वान, चाल छोड़कर मैत्री और वात्सल्य-भाव को अपनाना चाहिये।

□□

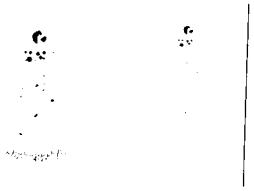

गुरुवाणी-

आनंद का स्रोत : आत्मानुशासन

आज हम एक पवित्र आत्मा की स्मृति के उपलक्ष्य में एकत्रित हुये हैं। भिन्न-भिन्न लोगों ने इस महान् आत्मा का मूल्यांकन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से किया है। लेकिन सभी अतीत में झांक रहे हैं। महावीर भगवान अतीत की स्मृति मात्र से हमारे हृदय में नहीं आयेंगे। वास्तव में देखा जाये तो महावीर भगवान एक चैतन्य पिंड हैं, वे कहीं गये नहीं हैं वे, प्रतिक्षण विद्यमान हैं किन्तु सामान्य आँखे उन्हें देख नहीं पाती।

देश के उत्थान के लिए, सामाजिक विकास के लिए और जितनी भी समस्याएं हैं उन सभी के समाधान के लिए आज अनुशासन को परम आवश्यक माना जा रहा है। लेकिन भगवान महावीर ने अनुशासन की अपेक्षा आत्मानुशासन को श्रेष्ठ माना है। अनुशासन चलाने के भाव में मैं बड़ा और दूसरा छोटा इस प्रकार का कषाय भाव विद्यमान है लेकिन आत्मानुशासन में अपनी ही कषायों पर नियंत्रण की आवश्यकता है। आत्मानुशासन में छोटे-बड़े की कल्पना नहीं है। सभी के प्रति समता भाव है।

अनादिकाल से इस जीवन ने कर्तृत्व-बुद्धि के माध्यम से विश्व के ऊपर अनुशासन चलाने का दम्भ किया है, उसी के परिणाम-स्वरूप यह जीव चारों गतियों में भटक रहा है। चारों गतियों में सुख नहीं है, शान्ति नहीं है आनंद नहीं है, फिर भी यह इन्हीं गतियों में सुख-शान्ति और आनंद की गवेषणा कर रहा है। वह भूल गया है कि दिव्य घोषणा है संतो की, कि सुख शान्ति का मूल स्रोत आत्मा है। वहीं इसे खोजा और पाया जा सकता है। यदि दुख का, अशान्ति और आकुलता का कोई केन्द्र बिंदु है तो वह भी स्वयं की विकृत दशा को प्राप्त आत्मा ही है। विकृत-आत्मा स्वयं अपने ऊपर अनुशासन चलाना नहीं चाहता, इसी कारण विश्व में सब ओर अशान्ति फैली हुई हैं।

भगवान महावीर की छवि का दर्शन करने के लिए भौतिक आँखें काम नहीं कर सकेंगी, उनकी दिव्य ध्वनि सुनने, समझने के लिये ये कर्ण पर्याप्त नहीं हैं। ज्ञान, चक्षु के माध्यम से ही हम महावीर भगवान की दिव्य छवि का दर्शन कर सकते हैं। उनकी वाणी को समझ सकते हैं। भगवान महावीर का शासन रागमय शासन नहीं रहा, वह वीतरागमय शासन है।

वीतरागता बाहर से नहीं आती, उसे तो अपने अन्दर जागृत किया जा सकता है, यह वीतरागता ही आत्म-धर्म है। यदि हम अपने ऊपर शासन करना सीख जायें, आत्मानुशासित हो जाएँ तो यही वीतराग आत्म-धर्म, विश्व धर्म बन सकता है।

भगवान पार्श्वनाथ के समय ब्रह्मचर्य की अपेक्षा अपरिग्रह को मुख्य रखा गया था। सारी भोग-सामग्री परिग्रह में आ जाती है। इसलिए अपरिग्रह पर अधिक जोर दिया गया। वह अपरिग्रह आज भी प्रासंगिक है। भगवान महावीर ने उसे अपने जीवन के विकास में बाधक माना है। आत्मा के दुख का मूलस्रोत माना है। किन्तु आप लोग परिग्रह के प्रति बहुत आस्था रखते हैं। परिग्रह छोड़ने को कोई तैयार नहीं है। उसे कोई बुरा नहीं मानता। जब व्यक्ति बुराई को अच्छाई के रूप में और अच्छाई को बुराई के रूप में स्वीकार कर लेता है तब उस व्यक्ति का सुधार, उस व्यक्ति का विकास असम्भव हो जाता है। आज दिशाबोध परमावश्यक है। परिग्रह के प्रति आसक्ति कम किये बिना वस्तुस्थिति ठीक प्रतिबिंबित नहीं हो सकती।

'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग; की घोषणा सैद्धान्तिक भले ही हो किन्तु प्रत्येक कार्य के लिए यह तीनों बातें प्रकारान्तर से अन्य शब्दों के माध्यम से हमारे जीवनमें सहायक सिद्ध होती है। आप देखते हैं कि कोई भी, सहज ही किसी को कह देता है या माँ अपने बेटे को कह देती है कि बेटा, देखभाल कर चलना, 'देख' यह दर्शन का प्रतीक है, 'भाल'- विवेक का प्रतीक है अर्थात् सम्यग्ज्ञान का प्रतीक है और 'चलना' यह सम्यक् चारित्र का प्रतीक है। इस तरह यह तीनों बातें सहज ही प्रत्येक कार्य के लिए आवश्यक है।

आप संसार के विकास के लिए चलते हैं तो उसी ओर देखते हैं, उसी को जानते हैं। महावीर भगवान आत्म-विकास की बात करते हैं। उसी ओर देखते, उसी को जानते हैं और उसी की प्राप्ति के लिए चलते हैं। इसलिए महावीर भगवान का दर्शन ज्ञेय पदार्थों को महत्व नहीं देता अपितु ज्ञान को महत्व देता है। ज्ञेय पदार्थों से प्रभावित होने वाला वर्तमान भौतिकवाद भले ही अध्यात्म की चर्चा कर लें किन्तु अध्यात्म को प्राप्त नहीं कर सकता। ज्ञेयत्व का मूल्यांकन आप कर रहे हैं और सारा संसार ज्ञेय बन सकता है किन्तु मूल्यांकन करने वाला किस जगह बैठा है इसे भी देखने की बहुत आवश्यकता है। अध्यात्म का प्रारंभ उसी से होगा।